* ॐ श्रीपरमात्मने नमः *



वर्ष ५४] * * * [अङ्क २

'तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ।'

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

(संस्करण १,६०,०००)

विषय-सूची

कल्याण, सौर फाल्गुन, श्रीकृष्ण-संवत् ५२०५, फरवरी १९८०

चित्र-सूची

Free of charge] जय विराट् जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥ [बिना मूल्य

आदि सम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार

सम्पादक, मुद्रक एवं प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

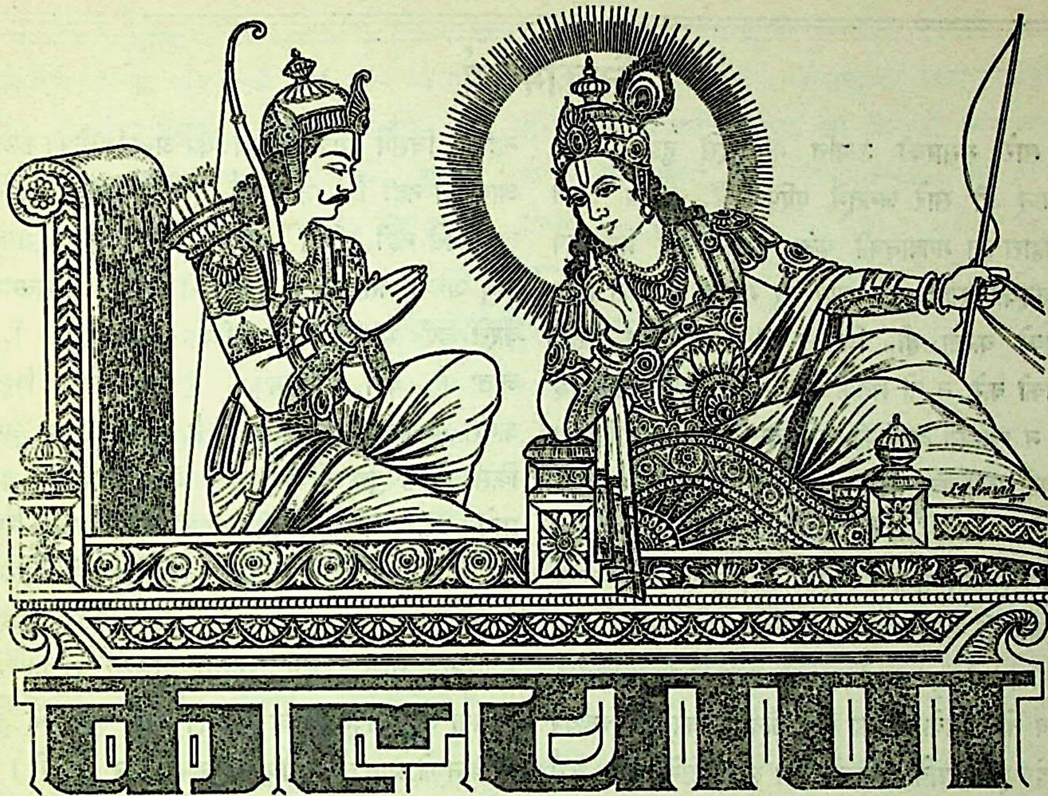
[भारत-सरकारद्वारा उपलब्ध कराये गये रियायती मूल्यके कागजपर मुद्रित]





मुरलीमनोहर—श्रीकृष्ण

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥



विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥ (श्रीमद्भगवद्गीता २ । ७१)

वर्ष ५४ } गोरखपुर, सौर फाल्गुन, श्रीकृष्ण-संवत् ५२०५, फरवरी १९८० { संख्या २
पूर्ण संख्या ६३९

भगवान् मुकुन्द (श्रीकृष्ण) में मन निर्द्वन्द्व लगा रहे

परब्रह्मानन्दे सकलसुरवन्द्ये स्वरसतः
क्षतद्वन्द्वे मन्दाकृतिदनुजकन्दाङ्कुरहरे ।
श्रियः कन्दे नन्दात्मज उदितचन्द्रस्मितमुखे
मुकुन्दे स्पन्दो मे भवतु मनसो द्वन्द्वविरतेः ॥
(गीताव्याख्यानोपोद्घाते सदानन्दः)

'जो समस्त देवताओंके वन्दनीय, अपने रससे सम्पूर्ण द्वन्द्वोंके क्षय-कारक, दुष्ट दानवरूपी कन्दके अङ्कुरका उच्छेद करनेवाले और शोभाके मूल हैं, जिनकी मधुर मुसकानसे विभूषित मुख नवोदित चन्द्रमाके समान कान्तिमान् है—उन परब्रह्मानन्दमय नन्दनन्दन भगवान् मुकुन्दमें ही द्वन्द्वोंसे विरक्त हुए मेरे मनकी सारी चेष्टाएँ हों ।'

निष्काम-कर्म

सारे संसारकी उत्पत्ति भगवान्से हुई है और भगवान् ही सारे जगत्में परिपूर्ण हैं, मनुष्य अपने कर्मोंद्वारा इन भगवान्की पूजा करके परम सिद्धिरूप भगवान्को सहज ही प्राप्त कर सकता है। जो जिस कार्यको करता हो, जिसका जो स्वाभाविक कर्म हो, उसीको करे, न तो सबके कर्म एक-से हो सकते हैं और न एक-सा बनानेकी व्यर्थ चेष्टा ही करनी चाहिये। नाटकमें सभी पात्र यदि एक ही पात्रका अभिनय करना चाहें तो खेल बिगड़ जाय। अपनी-अपनी जगह सभीकी जरूरत है और सभीका महत्त्व है। राजा और मजदूर दोनोंकी ही आवश्यकता है, इसलिये कर्म न बदलो, बस, मनके भावको बदल डालो। कर्मका छोटा-बड़ापन बाहरी है, महत्त्व तो हृदयके भावका है। ऊँच-नीचका भाव रखकर राग-द्वेषपूर्वक पराये अहितके लिये लोकदृष्टिमें अच्छा कर्म करनेवाला नरकगामी हो सकता है। शास्त्रविधिके अनुसार किसी फलकी इच्छासे यज्ञ, दान, तप आदि सत्कर्म करनेवाला ऐश्वर्य और स्वर्गादि विनाशी फलों और भोगोंको प्राप्त कर सकता है और स्वार्थको सर्वथा छोड़कर निष्कामभावसे श्रीभगवान्की प्राप्तिके लिये भगवदाज्ञानुसार साधारण स्वकर्म करता हुआ ही मनुष्य परमसिद्धिरूप परमात्माको पा सकता है। मनुष्य इस प्रकार अपने प्रत्येक कर्मको मुक्ति या भगवत्प्राप्तिका साधन बना सकता है।

अतएव मनसे दम्भ, दर्प, अभिमान, मान-बड़ाई, काम, क्रोध, वैर, लोभ, असत्य, हिंसा आदि दोषों और दुर्गुणोंको निकालकर अथवा यथाशक्ति इन दोषोंका दमन करते हुए केवल भगवत्प्रीत्यर्थ भगवान्की आज्ञा समझकर और भगवान्की सेवाके भावसे अपने-अपने कार्योंको करो। अपने प्रत्येक कर्मसे सदा सर्वत्र स्थित भगवान्की पूजा करो, याद रक्खो, जिस कर्ममें काम, क्रोध, लोभ आदि नहीं हैं, जिसमें भगवान्को छोड़कर अन्य किसी भी फलकी आकाङ्क्षा नहीं है, जो कर्म कर्मकी अथवा फलकी आसक्तिसे नहीं, किंतु भगवान्के दिये हुए स्वाँगका खेल अच्छी तरह खेलनेकी इच्छासे निरन्तर भगवत्स्मरण करते हुए भगवत्प्रीत्यर्थ सात्त्विक उत्साहपूर्वक किया जाता है, वही निष्कामकर्म है और उसी विशुद्ध कर्मसे भगवान्की पूजा होती है। यह पूजा अपने किसी भी उपर्युक्त दोषोंसे रहित विहित स्वकर्मके द्वारा प्रत्येक स्त्री-पुरुष सहज ही अपने-अपने स्थानमें रहते हुए ही कर सकता है। केवल मनके भावको बदलकर कर्मका प्रवाह भगवान्की ओर मोड़ देनेकी जरूरत है। फिर प्रत्येक कर्म तुम्हारी मुक्तिका साधन बन जायगा और अपने सहज कर्मोंको करते हुए भी तुम भगवान्को प्राप्तकर जीवनको सफल कर सकोगे।

यदि तुम व्यापारी या दूकानदार हो तो यह समझो कि मेरा यह व्यापार धन कमानेके लिये नहीं है, श्रीभगवान्की पूजा करनेके लिये है। लोभवृत्तिसे नहीं, जिन-जिनके साथ तुम्हारा व्यवहार हो, उन्हें लाभ पहुँचाते हुए अपनी आजीविका चलानेमात्रके लिये व्यापार करो। याद रक्खो—व्यापारमें पाप लोभसे ही होता है। लोभ छोड़ दोगे तो किसी प्रकारसे दूसरेका हक मारनेकी चेष्टा नहीं होगी। वस्तुओंका तौल-माप या गिनतीमें ज्यादा लेना और कम देना, बढ़ियाके बदले घटिया देना और घटियाके बदले बढ़िया लेना, आढ़त-दलाली वगैरहमें शर्तसे ज्यादा लेना आदि व्यापारिक चोरियाँ लोभसे ही होती हैं। परन्तु केवल लोभ ही नहीं छोड़ना है, दूसरोंके हितकी भी चेष्टा करनी है। जैसे लोभी मनुष्य अपनी दुकानपर किसी ग्राहकके आनेपर उसका बनावटी आदर-सत्कार करके उसे ठगनेकी चेष्टा करते हैं, वैसे ही तुम्हें कपट छोड़कर

*

ग्राहकको आदर-सत्कार और प्रेमके साथ सरल भाषामें सच्ची बात समझाकर उसका हित देखना चाहिये। यह समझना चाहिये कि इस ग्राहकके रूपमें साक्षात् परमात्मा ही आ गये हैं; इनकी जो कुछ सेवा मुझसे बन पड़े वही थोड़ी है। यों समझकर व्यापार करोगे तो तुम श्रीभगवान्‌के कृपापात्र बन जाओगे और वह व्यापार ही तुम्हारे लिये भगवत्प्राप्तिका साधन बन जायगा।—'शिव'

निष्काम-कर्मयोगकी महत्ता

(लेखक—महाकवि श्रीवनमालिदासजी शास्त्रीजी महाराज)

निष्कामःकर्मयोगो भवति हि भगवत्प्रीतिसम्प्राप्तियोग्ये
निष्कामःकर्मयोगो जननमरणजं बन्धनं नो करोति।
निष्कामे कर्मयोगे जनकप्रभृतयो भूभुजोऽतः प्रवृत्ता-
स्तस्मान्निष्कामपूर्वः प्रसरतु नितरां कर्मयोगाङ्क एषः॥

भगवान्‌की प्रसन्नताके बाद 'निष्कामकर्मयोग' भलीप्रकार प्राप्तिके योग्य बन जाता है—

'किमलभ्यं भगवति प्रसन्ने श्रीनिकेतने।
तथापि तत्परा राजन् न हि वाञ्छन्ति किंचन॥'
(श्रीमद्भा० १०। ३९। २)

क्योंकि 'भगवान्‌के प्रसन्न हो जानेपर कौन-सी वस्तु अलभ्य है? तथापि भगवत्परायण निष्काम भक्तजन कुछ नहीं चाहते।' निष्कामकर्मयोगसे जन्म-मरणके बन्धनसे प्राणी सदाके लिये मुक्त हो जाता है। जनक-प्रभृति प्राचीन राजागण भी निष्कामकर्मयोगमें ही प्रवृत्त रहते थे। हमारी प्रभुसे प्रार्थना है निष्कामकर्मयोगाङ्क भूतलपर अबाधरूपसे प्रसारित हो।

भगवत्प्रीत्यर्थ भगवदर्पणबुद्धिसे किया जानेवाला कर्म निष्काम है। प्राचीनबर्हिसे श्रीनारदजीने कहा था—**'तत्कर्म हरितोषं यत्'** (भाग० ४। २९। ४९)—कर्म वही है, जिसके आचरणसे श्रीहरि प्रसन्न हो जायँ। दस प्रचेताओंसे भी श्रीनारदजीने कहा था कि कर्म वे ही श्रेष्ठ कहे जाते हैं, जिनके द्वारा सर्वेश्वरकी सेवा सम्पन्न हो। **'किमधिकम्'** मुक्ति तो निष्काम भक्तोंका स्वयं भजन करती है। किसी प्रेमीने प्रभुसे ठीक ही कहा है—

वनः कामोऽस्माकं तव तु भजनेऽन्यत्र न रुचि-
स्तवैवाङ्घ्रिद्वन्द्वे नतिषु रतिरस्माकमतुला।
सकामे निष्कामा सपदि तु सकामा पदगता
सकामास्मान् मुक्तिर्भजति महिमाऽयं तव हरे॥

'प्रभो! आपके भजन, आपके श्रीचरण-युगलमें वारम्बार नमस्कार करनेमें ही हमारी अतुलनीय प्रीति है अन्यत्र कहीं भी रुचि नहीं है। अतएव प्रभो! सकाम व्यक्तियोंके प्रति निष्काम रहनेवाली मुक्ति देवी आपकी भक्तिके प्रभावसे तत्काल हमारे चरणोंके निकट आकर अपनी मुक्तिकी कामनासे हमारा ही भजन करती हैं। हरे! यह सब आपकी ही महिमा है, अर्थात् आपके भजनका ऐसा ही लोकोत्तर प्रभाव है।

प्रेमाश्रूणि विभूषयन्ति वदनं कण्ठं गिरो गद्गदा
रोमाञ्चेन चमत्कृता तनुरियं भक्त्या मनो नन्दितम्।
नास्माकं क्षणमात्रमप्यवसरः कृष्णार्चनं कुर्वतां
मुक्तिर्द्वारि चतुर्विधापि किमियं दास्याय लोलायते॥
(कृष्णकर्णामृत)

प्रेमाश्रुओंकी शृङ्खला हमारे मुखको विभूषित कर रही हैं, गद्गद वाणियाँ कण्ठकी शोभा बढ़ा रही हैं, हमारा यह शरीर रोमाञ्चसे चमत्कृत हो रहा है, प्रेमलक्षणा भक्तिसे हमारा मन परमप्रसन्न है, अतः श्रीकृष्णकी पूजामें लगे रहनेवाले हमको दूसरी ओर ध्यान न देनेके लिये क्षणमात्र भी अवसर नहीं है, तो भी न जाने यह चारों प्रकारकी मुक्तियाँ हमारे द्वारपर, हमारी सेवाके लिये क्यों लालायित हो रही है? हमें तो इनकी कोई आकाङ्क्षा नहीं है—

'अर्थ न धर्म न काम रुचि, गति न चहउँ निर्बान।
जन्म जन्म रति रामपद यह बरदान न आन'॥

श्रीरूपगोस्वामीद्वारा संकलित 'श्रीपद्यावली'के ११३वें श्लोकमें मुक्तिके प्रति प्रश्नोत्तर करते हुए किसी नामनिष्ठ भक्तने कितना सुन्दर कहा है—

का त्वं मुक्तिरुपागतास्मि भवती कस्मादकस्मादिह
श्रीकृष्णस्मरणेन देव भवतो दासीपदं प्रापिता।
दूरे तिष्ठ मनागनागसि कथं कुर्यादनार्यं मयि
त्वद्गन्धान्निजनामचन्दनरसालेपस्य लोपो भवेत्॥

भक्त—अरी, तू कौन है? *मुक्ति*—मैं मुक्ति आपकी सेवामें उपस्थित हूँ। *भक्त*—तो आप यहाँपर अकस्मात् (अचानक) क्यों आयीं? *मुक्ति*—देव! श्रीकृष्णके स्मरणके प्रभावसे मैं आपकी दासी बन गयी हूँ। अतः आप मुझे अपनी सेवामें रख लीजिये। इसपर भक्त बोला—अरी! तू दूर खड़ी रह, नितान्त निरपराधी मुझपर 'भगवत्सेवासे विमुख करके' कुठाराघात क्यों कर रही है? तेरी तो गन्धमात्रसे ही हमारे नामरूपी चन्दन-रसका लोप हो जायगा, अर्थात् तब न तो यह मेरा (भगवद्दास) नाम रहेगा और न सेवा-योग्य रूप ही, विशेष क्या कहूँ? देखो, मैं अपने उपास्य श्रीकृष्णके मङ्गलमय सुमधुरनामोंसे जो कीर्तन कर रहा हूँ, वह समस्त कीर्तनानन्द भी धूलमें मिल जायगा। अतः आप कृपया मेरे सामनेसे दूर हो जायँ। 'श्रीकृष्ण-कर्णामृत'कार भक्तवर्य श्रीबिल्वमङ्गलजी भी कहते हैं—

भक्तिस्त्वयि स्थिरतरा भगवन् यदिस्याद्
दैवेन न फलति दिव्यकिशोरमूर्तिः।
मुक्तिस्तदा मुकुलिताञ्जलिः सेवतेऽस्मान्
धर्मार्थकामगतयः समयप्रतीक्षाः॥

'हे भगवान् श्यामसुन्दर! देखो, हमारी भक्ति यदि आपमें अतिशय स्थिर हो जाय तो हमारे सौभाग्यसे आपकी दिव्यकिशोरमूर्ति प्रतिक्षण हमारे सामने ही प्रतिफलित हो जाती है और मुक्तिदेवी तो हाथ जोड़कर हमारी सेवा करती है; फिर बेचारे धर्म, अर्थ, कामादि पुरुषार्थ तो हमारी सेवा-समयकी प्रतीक्षामें ही बैठे रहते हैं।' कर्मोंकी शुद्धि भी भगवदर्पणसे ही होती है, अतः श्रीकृष्णने उद्धवके प्रति कहा है कि **'कर्मशुद्धिर्मदर्पणम्'** और भगवान्‌के प्रति अर्पण किये हुए कर्मोंका अपहरण भी नहीं होता है। यह बात ब्रह्माने भगवान्‌की स्तुति करते हुए कही थी—**'धर्मोऽर्पितः कर्हिचिद्ध्रियते न यत्र'** (श्रीमद्भा० ३।९।१३) अतः प्राणिमात्रको भगवत्प्रीत्यर्थ भगवदर्पणबुद्धिसे ही सदा सत्कर्मोंका आचरण करना चाहिये। निष्काम कर्मयोगकी यह विशेषता और है कि निष्कामतापूर्वक कर्मोंका अनुष्ठान करनेवाले निष्किंचन भक्तोंको अपने द्वारा किये गये एकादशीव्रत आदिके उद्यापनका आग्रह भी शास्त्रोंने दूर कर दिया है। पद्मपुराणीय-श्रीमद्भागवत-माहात्म्यके छठें अध्यायमें ऐसा ही कहा गया है—

अकिंचनेषु भक्तेषु प्रायो नोद्यापनग्रहः।
श्रवणेनैव पूतास्ते निष्कामा वैष्णवा यतः॥

कामनापूर्वक कर्म करनेवाले कर्मयोगीकी सिद्धि तो विधि-विधानकी सम्पूर्णताके अधीन है; किंतु निष्कामकर्मयोगीके कर्मोंकी सिद्धि विलम्ब होनेपर भी अवश्यम्भाविनी है। निष्काम कर्मयोगकी यही अपूर्व महिमा है। अतः स्कन्दपुराणीय श्रीमद्भागवत-माहात्म्यके चतुर्थ अध्यायमें कहा गया है—

धनार्थिनस्तु संसिद्धिर्विधिसम्पूर्णतावशात्।
कृष्णार्थिनस्तु संसिद्धिर्विलम्बेनापि जायते॥
कृष्णार्थिनो गुणस्यापि प्रेमैव विधिरुत्तमः॥

भगवत्प्रीत्यर्थ कर्म करनेवाले कर्मयोगीको सिद्धियाँ स्वतः वर लेती हैं। यह बात भगवान्‌ने अर्जुनसे स्वयं कही है और कर्मफलोंके त्यागकी शिक्षा भी दी है—

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि॥
अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्॥
(गीता १२।१०-११)

रामचरितमानसके—

मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज सरूपा॥

—इस भगवद्वचनके अनुसार सकामभावसे किया गया भगवदाराधन भी भगवद्दर्शनके लोकोत्तरप्रभावसे निष्कामरूपमें ही परिणत हो जाता है। ध्रुवजी राज्यकी आकाङ्क्षासे युक्त होकर भी भगवद्दर्शनके अनन्तर सब कुछ माँगना भूल गये और सकाम कर्मयोगियोंकी अवहेलना करते हुए प्रभुसे बोले—

नूनं विमुष्टमतयस्तव मायया ते
ये त्वां भवाप्ययविमोक्षणमन्यहेतोः।
अर्चन्ति कल्पकतरुं कुणपोपभोग्य-
मिच्छन्ति यत्स्पर्शजं निरयेऽपि नृणाम्॥

(श्रीमद्भा० ४। ९। ९)

'प्रभो! इस शवतुल्य शरीरके द्वारा भोगा जाने-वाला इन्द्रिय और विषयोंके संसर्गसे उत्पन्न सुख तो मनुष्योंको नरकमें भी अर्थात् नरकतुल्य शूकर-कूकर आदि योनियोंमें भी मिल सकता है। किंतु जो लोग इस विषय-सुखके लिये लालायित रहते हैं और जो जन्म-मरणके बन्धनसे छुड़ा देनेवाले, कल्पतरुस्वरूप आपकी उपासनाको, आपकी प्राप्तिके अतिरिक्त किसी कारणसे करते हैं, उनकी बुद्धि अवश्य ही आपकी मायाके द्वारा ठगी गयी है। राज्यकी इच्छासे श्रीरामकी शरणमें आनेवाले विभीषणकी (वासना समाप्ति संयुत) अनुभूति भी ऐसी ही रही है—

उर कछु प्रथम बासना रही। प्रभु पद प्रीति सरित सो बही॥

निष्काम कर्मयोगियोंकी प्रशंसा करते हुए इन्द्रने, दितिदेवीसे ऐसा ही कहा था—

आराधनं भगवत ईहमाना निराशिषः।
ये तु नेच्छन्त्यपि परं ते स्वार्थकुशलाः स्मृताः॥

(श्रीमद्भा० ६। १८। ७४)

'जो लोग निष्कामभावसे भगवान्‌की आराधना करते हैं, वे दूसरी वस्तुओंकी तो बात ही क्या, मोक्षकी भी इच्छा नहीं करते; वस्तुतः ऐसे वे लोग ही अपने स्वार्थ एवं परमार्थमें निपुण हैं।' तात्पर्य यह कि मानवके लिये सर्वोत्तम कर्तव्य निष्काम भक्ति ही है। भक्तिमें मुक्तिकी भी कामना परित्याज्य है। अतः निष्कामताकी पराकाष्ठा स्वार्थ-शून्य पराभक्ति ही है।

कर्मयोगका आदर्श

(२)

(स्वामी विवेकानन्दका कर्मयोगपर तात्त्विक विवेचन)

अब दूसरा प्रश्न आता है—यह कर्म क्या है? संसारके प्रति उपकार करनेका अर्थ क्या है? क्या हम सचमुच संसारका कोई उपकार कर सकते हैं? उपकारका अर्थ यदि 'पूर्ण उपकार' लिया जाय, तो उत्तर है—नहीं; 'परंतु सापेक्षदृष्टिसे' 'हाँ,' है। संसारके प्रति ऐसा कोई भी उपकार नहीं किया जा सकता, जो चिरस्थायी हो। यदि ऐसा कभी सम्भव होता तो यह संसार इस रूपमें कभी न रहता, जैसा उसे हम आज देख रहे हैं। हम किसी मनुष्यकी भूख अल्प समयके लिये भले ही शान्त कर दें, परंतु बादमें वह फिर भूखा हो जायगा। किसी व्यक्तिको हम जो भी कुछ सुख दे सकते हैं, वह क्षणिक ही होता है। सुख और दुःखरूपी इस सतत होनेवाले रोगका कोई भी सदाके लिये उपचार नहीं कर सकता—इस सतत गतिमान् सुख-दुःखरूपी चक्रको कोई भी चिरकालके लिये रोक नहीं सकता। क्या संसारको हम कोई चिरन्तन सुख दे सकते हैं? नहीं; यह कभी सम्भव नहीं हो सकता। समुद्रके जलमें बिना किसी एक जगह गर्त पैदा किये हम एक भी लहर नहीं उठा सकते। इस संसारमें सारी शक्तियोंकी समष्टि सदैव समान रहती है। यह न तो कम हो सकती है, न अधिक।

उदाहरणार्थ हम मानव-जातिके इतिहासको ही ले लें। जैसा कि हमें आज ज्ञात है—क्या हमें सदैव वही सुख-दुःख, हर्ष-विषाद तथा अधिकारका तारतम्य पग-पगपर नहीं दिखायी देता? क्या कुछ लोग अमीर तो कुछ गरीब, कुछ बड़े तो कुछ छोटे, कुछ स्वस्थ तो कुछ रोगी नहीं हैं? प्राचीनकालमें मिश्रवासियों, ग्रीकवालों और रोमनोंकी जो अवस्था थी, वही आज अमेरिकावालोंकी भी है। जहाँतक हमें इस संसारके इतिहाससे पता चलता है, यही दशा सदैव रही है, परंतु फिर भी हम देखते हैं कि सुख-दुःखकी इस अनिवार्य भिन्नताके होते हुए भी साथ-ही-साथ उसे घटानेके प्रयत्न भी सदैव होते रहे हैं। इतिहासके प्रत्येक युगमें ऐसे हजारों स्त्री-पुरुष हुए हैं, जिन्होंने दूसरोंके लिये जीवनपथको सुगम बनानेके लिये अविरल परिश्रम किया है। पर वे कभी इसमें सफल न हो सके।

हम तो केवल एक गेंदको एक जगहसे दूसरी जगह फेंकनेका खेल खेल सकते हैं। हमने यदि शरीरसे दुःखको निकाल बाहर किया तो देखते हैं कि वह मनमें जा बैठा। यह ठीक दान्तेके उस नरक-चित्र जैसा है, जैसा कि इन शब्दोंसे व्यक्त होता है—कंजूसोंको सोनेका एक बड़ा गोला दिया गया है और उनसे उस गोलेको पहाड़के ऊपर ढकेलकर चढ़ानेके लिये कहा गया है। परंतु प्रत्येक बार ज्यों ही वे उसे थोड़ा-सा ऊपर ढकेल पाते हैं कि वह लुढ़ककर नीचे आ जाता है। इसी प्रकार यह संसार-चक्र घूम रहा है। सतयुगके सम्बन्धमें हमारी बातचीत बहुत सुन्दर है, परंतु उसी प्रकार जैसे स्कूलके बच्चोंके लिये किस्से-कहानी। उससे अधिक और कुछ नहीं। जो सब जातियाँ सतयुगका लुभावना स्वप्न देखा करती हैं, वे अपने मनमें यह भावना रखती हैं कि उस सतयुगके आनेपर संसारकी अन्य जातियोंकी अपेक्षा शायद उन्हें ही उसका सबसे अधिक लाभ मिल जायगा। सतयुगके सम्बन्धमें यह कैसा निःस्वार्थ भाव है!

अतएव यह सिद्ध हुआ कि हम इस संसारके सुखको नहीं बढ़ा सकते और इसी प्रकार न दुःखको ही। इस संसारमें शुभ और अशुभ शक्तियोंकी समष्टि सदैव समान रहेगी। हम उसे सिर्फ यहाँसे वहाँ और वहाँसे यहाँ ढकेलते रहते हैं, परंतु यह निश्चित है कि वह सदैव समान रहेगी; क्योंकि वैसा रहना ही उसका स्वभाव है। यह ज्वार-भाटा, यह चढ़ाव-उतार तो संसारकी प्रकृति ही है। इसके विपरीत सोचना तो वैसा ही युक्तिसंगत होगा, जैसा यह कहना कि मृत्यु बिना जीवन सम्भव है।

उपर्युक्त सतयुगसम्बन्धी धारणासे अनेक व्यक्तियोंको कार्य करनेकी प्रेरणा मिली है। आजकलके जमानेमें सतयुगी भावनाने साम्य, स्वाधीनता और भ्रातृभावका रूप धारण कर लिया है। पर यह भी एक मतान्धता है। यथार्थ साम्यभाव न तो कभी संसारमें हुआ है और न कभी होनेकी आशा है। यहाँ हम सब समान हो ही कैसे सकते हैं? इस प्रकारके असम्भव साम्यभावका फल तो मृत्यु ही होगा। जगत्की उत्पत्ति तथा उसकी स्थितिका कारण क्या है? साम्यका अभाव, केवल वैषम्यभाव। जगत्की प्रारम्भिक अवस्थामें—प्रलयावस्थामें ही सम्पूर्ण साम्यभाव हो सकता है। तब फिर इन सब निर्माणशील विभिन्न शक्तियोंका उद्भव किस प्रकार होता है? विरोध, प्रतियोगिता एवं प्रतिद्वन्द्विताद्वारा ही तो। थोड़ी देरके लिये मान लो कि संसारके सब भौतिक परमाणु सम्पूर्ण साम्यावस्थामें स्थित हो गये तो फिर सृष्टि रहेगी कहाँ? विज्ञान हमें सिखाता है कि यह असम्भव है। स्थिर जलको हिला दो; तुम देखोगे कि प्रत्येक जल-बिन्दु फिरसे स्थिर होनेकी चेष्टा करता है, एक दूसरेकी ओर इसी हेतु दौड़ता है। इसी प्रकार यह जगत्-प्रपञ्च उत्पन्न हुआ है और उसके अन्तर्गत समस्त शक्तियाँ एवं समस्त पदार्थ अपने नष्ट साम्यभावको पुनः प्राप्त करनेके लिये चेष्टा कर रहे हैं।

पुनः वैषम्यावस्था आती है और उससे पुनः इस सृष्टिरूप मिश्रणकी उत्पत्ति हो जाती है। वैषम्य ही सृष्टिकी नींव है। परंतु साथ ही वे शक्तियाँ भी, जो साम्यभाव स्थापित करनेकी चेष्टा करती हैं, सृष्टिके लिये उतनी ही आवश्यक हैं जितनी कि वे जो उस साम्यभावको नष्ट करनेका प्रयत्न करती हैं।

सम्पूर्ण साम्यभाव अर्थात् समस्त प्रतिद्वन्द्वी शक्तियों-का सम्पूर्ण सामञ्जस्य इस संसारमें कभी नहीं हो सकता। उस अवस्थाको प्राप्त करनेके पूर्व ही सारा संसार किसी भी प्रकारके जीवनके लिये सर्वथा अयोग्य बन जायगा और वहाँ कोई भी प्राणी न रहेगा। अतएव हम देखते हैं कि सतयुग अथवा सम्पूर्ण साम्यभावकी ये धारणाएँ इस संसारमें केवल असम्भव ही नहीं हैं, वरन् यदि हम इन्हें सम्पूर्णरूपसे कार्यरूपमें परिणत करें तो वे हमें निश्चय प्रलयकी ओर ले जायँगी। वह क्या चीज है जो मनुष्य-मनुष्यमें भेद स्थापित करती है? वह है मस्तिष्ककी भिन्नता। आजकलके दिनोंमें एक पागलके अतिरिक्त और कोई भी यह न कहेगा कि हम सब मस्तिष्ककी समान शक्ति लेकर उत्पन्न हुए हैं। सम्पूर्ण साम्यभावका अर्थ है मृत्यु। जबतक यह संसार बना रहेगा, तबतक वैषम्यभाव रहेगा ही। और यह सतयुग अथवा साम्यभाव तभी आयेगा, जब कल्पका अन्त हो जायगा। उसके पहले पूर्ण साम्यभाव नहीं आ सकता। परन्तु फिर भी साम्यभावकी यह धारणा हमारे लिये कार्यमें प्रवृत्ति देनेवाली एक प्रबल शक्ति है। जिस प्रकार सृष्टिके लिये वैषम्य उपयोगी है, उसी प्रकार उस वैषम्यको घटानेकी चेष्टा भी नितान्त आवश्यक है। जिस प्रकार वैषम्य न होनेसे सृष्टि नहीं रह सकती, उसी प्रकार मुक्ति एवं ईश्वरके पास लौट जानेकी चेष्टा बिना भी सृष्टि नहीं रह सकती। कर्म करनेके पीछे मनुष्यका जो हेतु रहता है, वह इन दो शक्तियोंके तारतम्यसे ही निश्चित होता है और कर्म करनेके ये भिन्न-भिन्न उद्देश्य चिरकालतक विद्यमान रहेंगे—कुछ बन्धनकी ओर ले जायँगे और कुछ मुक्तिकी ओर।

संसारका यह 'चक्रके भीतर चक्र' एक बड़ा भयानक यन्त्र है। इसके भीतर हाथ पड़ा नहीं कि हम गये। हम सभी सोचते हैं कि अमुक कर्तव्य पूरा होते ही हमें छुट्टी मिल जायगी, हम चैनकी साँस लेंगे; पर उस कर्तव्यका मुश्किलसे एक अंश भी समाप्त नहीं हो पाता कि एक दूसरा कर्तव्य सिरपर आ खड़ा हो जाता है। संसारका यह प्रचण्ड शक्तिशाली, जटिल यन्त्र हम सबोंको खींचे ले जा रहा है। इससे बाहर निकलनेके केवल दो ही उपाय हैं। एक तो यह है कि उस यन्त्रसे सारा नाता ही तोड़ दिया जाय—वह यन्त्र चलता रहे, हम एक ओर खड़े रहें एवं हम अपनी समस्त वासनाओंका त्याग कर दें। अवश्य यह कह देना तो बड़ा सरल है, परंतु इसे अमलमें लाना असम्भव-सा है। दूसरा उपाय है—हम इस संसारक्षेत्रमें उतर आयें और कर्मका रहस्य जान लें। इसीको कर्मयोग कहते हैं। हम इस संसारयन्त्रसे दूर न भागें वरन् इसके अंदर ही खड़े होकर कर्मका रहस्य सीख लें। भीतर रहकर कौशलसे कर्मके बाहर निकल आना सम्भव है। इस यन्त्रके भीतरसे ही बाहर निकल आनेका मार्ग है।

अब हमने देखा कि कर्म क्या है। यह प्रकृतिकी नींवका एक अंश है और सदैव ही चलता रहता है। जो ईश्वरमें विश्वास करते हैं, वे इसे अपेक्षाकृत अधिक अच्छी तरह समझ सकेंगे; क्योंकि वे जानते हैं कि ईश्वर कोई ऐसा एक असमर्थ पुरुष नहीं है, जिसे हमारी सहायताकी आवश्यकता है। यद्यपि यह जगत् अनन्तकालतक चलता रहेगा, फिर भी हमारा ध्येय

मुक्ति ही है; निःस्वार्थता ही हमारा लक्ष्य है; और कर्मयोगके मतानुसार उस ध्येयकी प्राप्ति कर्मद्वारा ही करनी होगी। संसारको पूर्णरूपसे सुखी बनानेकी जो सब भावनाएँ हैं, वे मतान्ध व्यक्तियोंके लिये प्रेरणा-शक्तिके रूपमें भले ही अच्छी हों, पर हमें यह भी जान लेना चाहिये कि मतान्धतासे जितना लाभ होता है, उतनी ही हानि भी होती है। कर्मयोगी प्रश्न करते हैं कि तुम्हें कर्म करनेके लिये मुक्तिको छोड़ अन्य कोई उद्देश्य क्यों होना चाहिये? सब प्रकारके सांसारिक उद्देश्यसे अतीत हो जाओ। तुम्हें केवल कर्म करनेका अधिकार है, कर्मफलमें तुम्हारा कोई अधिकार नहीं— **'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।'** कर्मयोगी कहते हैं कि मनुष्य अध्यवसायद्वारा इस सत्यको जान सकता है और इसे कार्यरूपमें परिणत कर सकता है। जब परोपकार करनेकी इच्छा उसके रोम-रोममें भर जाती है तो फिर उसे किसी बाहरी उद्देश्यकी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। हम भलाई क्यों करें? इसलिये कि भलाई करना अच्छा है। कर्मयोगीका कथन है कि जो स्वर्ग प्राप्त करनेकी इच्छासे भी सत्-कर्म करता है, वह भी अपनेको बन्धनमें डाल लेता है। किसी कार्यमें यदि थोड़ी-सी स्वार्थपरता रहे तो वह हमें मुक्त करनेके बदले हमारे पैरोंमें और एक बेड़ी डाल देता है।

अतएव एकमात्र उपाय है—समस्त कर्मफलोंका त्याग कर देना, अनासक्त हो जाना। यह जान लेना चाहिये कि न तो यह संसार हम हैं और न हम यह संसार हैं। न हम यह शरीर हैं और न वास्तवमें हम कोई कर्म ही करते हैं। हम हैं आत्मा! हम अनन्तकालसे विश्राम और शान्तिका आनन्द भोग रहे हैं। हम क्यों किसीके बन्धनमें पड़ें? किंतु यह कह देना बड़ा सरल है कि हम पूर्णरूपसे अनासक्त रहें, परंतु ऐसा हो किस तरह? बिना किसी स्वार्थके किया हुआ प्रत्येक सत्कार्य हमारे पैरोंमें और एक बेड़ी डालनेके बदले पहलेकी ही एक बेड़ीको तोड़ देता है। बिना किसी बदलेकी आशासे संसारमें भेजा गया प्रत्येक शुभ विचार संचित होता जायगा, वह हमारे पैरोंमेंसे एक बेड़ीको काट देगा और हमें अधिकाधिक पवित्र बनाता जायगा, जबतक कि हम पवित्रतम मनुष्यके रूपमें परिणत नहीं हो जाते। पर हो सकता है, यह सब आपलोगोंको केवल एक अस्वाभाविक और कोरी दार्शनिक बात ही जान पड़े, जो कार्यमें परिणत नहीं की जा सकती है। मैंने भगवद्गीताके विरोधमें अनेक युक्तियाँ पढ़ी हैं और कई लोगोंका यह सिद्धान्त है कि बिना किसी हेतुके हम कुछ कर्म कर ही नहीं सकते। पर उन्होंने शायद मतान्धतासे रहित कोई निःस्वार्थ कर्म कभी देखा ही नहीं है, इसलिये वे ऐसा कहा करते हैं। वस्तुतः गीतोक्त कर्मयोग अनुष्ठेय है। (समाप्त)

('कर्मयोग'से)

अनासक्त (निष्काम-कर्मी) होना आर्यत्व है

आर्यता नाम भूतानां यः करोति प्रयत्नतः।
शुभं कर्म निराकारो वीतरागस्तथैव च॥

(महाभा० शान्तिपर्व १६२। १८)

(भीष्मजी कहते हैं—) 'जो मनुष्य अपनेको प्रकट न करके प्रयत्नपूर्वक प्राणियोंकी भलाईके काम करता रहता है, उसके उस श्रेष्ठ भाव और आचरणका नाम आर्यता है। यह आसक्तिके त्यागसे प्राप्त होता है।'

निष्काम-कर्मयोगसे भगवत्प्राप्ति

(लेखक—ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृतवचन)

निष्कामकर्मसे परमात्माकी प्राप्ति अवश्य हो जाती है। यदि उसमें भक्तिका मिश्रण हो जाय, तब तो कल्याण होनेमें संदेह या देर भी क्या है। साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णके वचन हैं—

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात् कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्॥

(गीता १२। १२)

अभिप्राय यह कि अभ्याससे ज्ञान श्रेष्ठ है। योगका अभ्यास, (तत्रस्थितौ यत्नोऽभ्यासः—योगदर्श०) शास्त्रका अभ्यास किसी भी प्रकारका अध्यात्म-विषयक अभ्यास है, उससे ज्ञान श्रेष्ठ है। पर जो अभ्यास ज्ञानपूर्वक नहीं है, उसकी अपेक्षा वह ज्ञान श्रेष्ठ है, जहाँ केवल ज्ञान है, पर अभ्यास नहीं है, शास्त्रके (परोक्ष) ज्ञानसे परमात्माका ध्यान श्रेष्ठ है। किंतु परमात्माके साक्षात्—यथार्थ अनुभव (अपरोक्ष ज्ञान)-से नहीं। परमात्माका जो ध्यान निष्काम नहीं है, ऐसे ध्यानसे कर्मफलका त्याग श्रेष्ठ है, अर्थात् जहाँ कर्मके फलकी इच्छा नहीं है, ऐसा निष्कामकर्म भगवान्के सकाम ध्यानसे श्रेष्ठ है; क्योंकि कर्मफलके त्यागमें जो त्याग है, उस त्यागसे तत्काल शान्ति मिल जाती है। परमात्माकी प्राप्ति होनेपर जो शान्ति मिलती है, वही शान्ति यहाँ भगवान्को अभिमत है। यहींपर निर्वाणसे भी निर्दिष्ट है। यह शान्ति ही अन्यत्र जीवमुक्ति कही गयी है। इसलिये निष्कामकर्म सबसे श्रेष्ठ है। इसीलिये कर्मफलका त्याग ध्यानसे भी श्रेष्ठ कहा गया है। जिसमें कर्म-फल-त्यागके साथ ध्यान नहीं है, अर्थात् यह कर्मफल त्याग ध्यानरहित या निर्बीज, असम्प्रज्ञात योग है। ध्यान होनेसे तो ईश्वरकी भक्ति सम्मिलित हो गयी, अतः वह तो श्रेष्ठ है ही। पर जिस ध्यानके साथ फलत्याग नहीं है, उस सकाम ध्यानकी अपेक्षा वह निष्कामकर्म जिसके साथ ध्यान नहीं है, श्रेष्ठ है। यही निष्काम-कर्मयोग है। गीताके तीसरे अध्यायके १९वें श्लोकमें भी इस निष्काम-कर्मयोगका वर्णन है। आसक्तिके त्यागसे परमात्माकी प्राप्ति बतलायी गयी है।

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥

भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—'अर्जुन! इसलिये तू अनासक्त या निष्कामभावसे आसक्तिरहित होकर कर्तव्य कर्मोंका अच्छी प्रकारसे आचरण कर; क्योंकि निष्काम-भावसे सदा-सर्वदा कर्मोंका आचरण करता हुआ पुरुष परमात्मको प्राप्त कर लेता है।' यहाँ साधनके साथ भक्ति नहीं है और कर्मोंके साथ 'सततम्' शब्द है। अतः इसका यह अर्थ है कि सदा-सर्वदा अनासक्त-भावसे, निष्कामभावसे कर्मोंका आचरण कर। जहाँ आसक्ति नहीं है, वहाँ कामना है ही नहीं, क्योंकि—

सङ्गात् संजायते कामः　　(गीता २। ६२)

—आसक्तिसे ही कामना उत्पन्न होती है। जहाँ आसक्ति ही नहीं, कारण ही नहीं, वहाँ कामनारूप कार्यका तो अभाव होगा ही। ऐसे ही गीताके छठे अध्यायके पहले श्लोकमें भी भक्तिरहित कर्मयोग है—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥

जो मनुष्य फलके आश्रयसे रहित होकर कर्म करता है, फलकी इच्छा बिल्कुल नहीं है, ऐसा पुरुष श्रेष्ठ माना गया है, वह योगी है। किंतु केवल स्वरूपसे जिसने कर्मोंका या अग्निका त्याग कर दिया है, वह न संन्यासी है और न योगी। वास्तवमें जिसके अन्तःकरणमें उच्चकोटिका भाव है, भीतरमें भी जिसके त्याग है, भीतरमें ज्ञान है, भीतरमें योगका अभ्यास है,

परमात्माका ध्यान है, उसके लिये यह नहीं कहा कि वह संन्यासी या योगी नहीं है।

इसी प्रकार गीतामें कहीं आसक्तिके त्यागकी, कहीं कामनाके त्यागकी बात कही गयी है। यदि भगवान्‌की भक्तिका सम्बन्ध नहीं है तो भी निष्काम-कर्मयोग भी मुक्तिको देनेवाला है। गीतामें भी इसका उल्लेख है—

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥
(५।११)

निष्काम-कर्मयोगी केवल शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियोंसे अनासक्तभावसे आत्माकी शुद्धिके लिये कर्म करते हैं। इससे अन्तःकरण शुद्ध होकर वे परमात्माको पा लेते हैं वे आगे पुनः स्पष्ट कहते हैं—

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥
(५।१२)

युक्त अर्थात् निष्कामभावसे कर्म करनेवाला पुरुष कर्मफलको त्यागकर निष्ठावाली शान्तिको पा लेता है, यह शान्ति योगनिष्ठाकी या परमात्माकी प्राप्ति होनेपर मिलती है, इसे परम, शाश्वत, शान्ति या मुक्ति भी कहते हैं। पर जो योगयुक्त नहीं है, वह कामनाके कारण फलमें आसक्त हुआ कर्मोंके द्वारा बँध जाता है। इस प्रकार गीतामें जहाँ कहीं भक्तिका बिल्कुल सम्बन्ध नहीं बताया गया है, वह कर्म निष्कामकर्म है। यानी जहाँ कामनाका अभाव है, आसक्तिका अभाव है, कर्तव्य-बुद्धिसे कर्म किया जाता है, वह केवल निष्काम कर्म है। उससे भी आत्माका उद्धार हो जाता है और उसके साथ भक्तिका मिश्रण हो जाय, तब उससे उद्धार हो जाय, इसमें कहना ही क्या है।

अब यह विचार करना चाहिये कि वह कौन-सा कर्म है, जिस वर्ण-आश्रमके मनुष्यके लिये, जिस पुरुष या स्त्रीके लिये शास्त्रने जो कर्म निश्चित कर दिया है—उसका कर्तव्य बतला दिया है, उस कर्मको निष्कामभावसे करनेपर उसका कल्याण हो जाता है। जैसे सुहागिन स्त्रीके लिये पातिव्रत-धर्मका पालन करना उसका कर्तव्य है, वह यदि केवल निष्कामभावसे किया जाय तो पातिव्रत्यधर्मका पालन करती हुई वह परमात्माको प्राप्त हो जाती है। इसी प्रकार जिसके माता-पिता जीवित हैं, वह केवल निष्कामभावसे माता-पिताकी सेवा करके परम गतिको प्राप्त हो जाता है। उसके लिये माता-पिताकी सेवा परम धर्म है, शेष सब उपधर्म हैं। मनुस्मृतिमें बतलाया गया है—

त्रिष्वेतेष्विति कृत्यं हि पुरुषस्य समाप्यते।
एष धर्मः परः साक्षादुपधर्मोऽन्य उच्यते॥
(मनु० २।२३७)

माता, पिता और आचार्य—इन तीनोंकी सेवासे ही पुरुषका समस्त कर्म सम्पन्न हो जाता है। यही साक्षात् परम धर्म है, इसके अतिरिक्त अन्य सब उपधर्म हैं। पातिव्रत्यधर्मका पालन करनेसे किन-किन स्त्रियोंका उद्धार हो गया—इसके लिये शास्त्र प्रमाण हैं। श्रीतुलसीदासजी भी रामचरितमानसके अरण्यकाण्डमें अनसूयाजीने जो सीताजीके प्रति उपदेश दिया था, उसका उल्लेख करते हुए लिखते हैं—

एकइ धर्म एक ब्रत नेमा। काय बचन मन पति पद प्रेमा॥
बिनु श्रम नारि परम गति लहई। पतिब्रत धर्म छाड़ि छल गहई॥
(अरण्य० ४।५, ९)

स्त्रीके लिये एक ही धर्म, एक ही व्रत और एक ही नियम है—मन, वाणी और शरीरसे पतिके चरणोंमें प्रेम करना। छलका त्याग करके पातिव्रत्यधर्मका पालन करनेवाली नारी बिना परिश्रम ही परम गतिको प्राप्त हो जाती है। इसी प्रकार शास्त्रोंमें जगह-जगह पातिव्रत्यधर्मकी महिमा बतलायी गयी है। अनसूयाजी स्वयं पातिव्रत्यधर्मका पालन करनेवाली थीं—जिनके अंशरूपसे ब्रह्मा, विष्णु, महेशने अवतार लिया था।

ऐसे और भी बहुत-से उदाहरण हैं। इसी प्रकार मनुष्य सबकी सेवा करके परम गतिको प्राप्त हो सकता है, अवश्य ही सर्वथा उसका निष्कामभाव होना चाहिये। उसमें किसी प्रकार भी कहीं भी किंचिन्मात्र भी स्वार्थ नहीं रहना चाहिये। हरेक प्रकारसे हम लोगोंका कर्तव्य है सबकी सेवा करना। यज्ञ, दान, तप इत्यादि जो शुभ कर्म हैं, उनका भी जो निष्कामभावसे पालन करता है उसका निश्चय कल्याण हो जाता है।

सब वर्णोंकी सेवा करना शूद्रका धर्म है। वह चारों वर्णोंकी सेवा करके परम गतिको प्राप्त हो जाता है। किंतु उसमें भी निष्कामभाव होना चाहिये। इसी प्रकार वैश्य कृषि, गौरक्ष्य, वाणिज्य निष्कामभावसे करे तो उसका उद्धार हो जाता है, किंतु जो वैश्य रुपया संग्रह करनेके लिये कर्म करता है, उस रुपयोंकी कामनावालेका नहीं जो अपना कोई भी स्वार्थ नहीं रखता और यह समझता है कि खेती, व्यापार या गोरक्षाके द्वारा सबको सुख पहुँचाना है तथा यों सुख पहुँचाकर भी जो बदला कुछ भी न चाहे, उसीका निष्कामभाव है। आप दूसरोंकी सेवा करते हुए यदि मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाकी इच्छा करते हैं तो वह निष्कामसेवा नहीं है। आप इनकी इच्छा तो नहीं करते, इनकी प्राप्ति आपका उद्देश्य भी नहीं है, पर दूसरे लोग आपका आदर-सत्कार तथा प्रतिष्ठा करते हैं, आपकी कीर्ति गाते हैं और उन सबको सुनकर यदि आपके चित्तमें प्रसन्नता होती है तो वह भी सकामभाव है। वह एक प्रकारसे निष्कामभावमें कमी है। इस बातको तो मनुष्यको बुद्धिसे या विचारसे हटा ही देना चाहिये कि दूसरे मनुष्य यह कहें कि वाह! वाह वाह!! ये बड़े उच्चकोटिके निष्कामी हैं, बड़े स्वार्थत्यागी हैं। ये शब्द हमको प्रिय नहीं लगने चाहिये, बल्कि इन्हें सुनकर हमको लज्जा होनी चाहिये, मनमें दुःख होना चाहिये।

प्रत्येक काममें यह विचार करना चाहिये कि यह काम जो मैं कर रहा हूँ, इसमें मेरी कोई कामना तो नहीं है, मेरी आसक्ति तो नहीं है। जहाँ आसक्ति है, कामना है, वहाँ समझना चाहिये कि वह निष्काम नहीं है। निष्काम न होनेपर भी सेवा, परोपकार करना उत्तम है। विचार करना चाहिये कि कोई मनुष्य किसी भी प्रकारसे दूसरेकी सेवा करता है, दान देता है, उपकार करता है और वह भयसे, लज्जासे या मान-बड़ाईकी इच्छासे करता है तो वह करना भी न करनेकी अपेक्षा बहुत श्रेष्ठ है। किंतु जो ऐसे निष्कामकर्म हैं, उनका तो बहुत ही ऊँचा दर्जा है। मनुष्यको सदा सावधान रहना चाहिये। किसी भी प्रकारकी कामना निष्कामभावमें कलङ्क है। शुभ-कर्म सकामभावसे भी करना अच्छा है, पर निष्कामका दर्जा बहुत ऊँचा है। सकाम और निष्काममें बहुत अधिक अन्तर है, रात-दिनका अन्तर है। इस बातको ध्यानमें रखकर मनुष्यको निष्कामभावसे आचरण करना चाहिये।

कोई भी मनुष्य कुछ काम करता है तो पहले मनमें यह भाव आ जाता है कि इसको करनेसे मुझको क्या लाभ होगा। यही सकाम भाव है। इसलिये 'मेरी इस क्रियासे संसारको कितना लाभ होगा'—इस दृष्टिको रखकर कर्म करना चाहिये। अधिक-से-अधिक लोगोंको लाभ हो—यह ध्यान रखना चाहिये और उस लाभके बदलेमें कुछ भी नहीं चाहना चाहिये; बल्कि देनेपर भी नहीं लेना चाहिये। किंतु याद रखना चाहिये कि कहीं-कहीं लेना भी एक प्रकारसे निष्काम हो जाता है। जैसे कोई साधु, महात्मा, ब्राह्मण या गृहस्थ है, उसे कोई व्यक्ति अपना कर्तव्य समझकर निष्कामभावसे कुछ देता है,

उचित या न्याय समझकर देता है तो उसको निष्काम-भावसे ले लेना देनेवालेके लिये भी हितकर है और लेनेवालेके लिये भी हितकर है।

जैसे किसी साधुके पास वस्त्र नहीं है, देनेवाला आग्रह करके देता है और साधुको भी एक प्रकारसे लेनेकी इच्छा नहीं है बल्कि अपने फटे-पुराने वस्त्रसे ही काम चलानेकी इच्छा है, किंतु फिर भी वह उसके आग्रह करनेपर उसके संतोष-प्रसन्नताके लिये कुछ स्वीकार कर ले तो उसमें दोष नहीं है। दाताके मनमें यदि यह दुःख हो कि 'मैं गया-बीता हूँ, इसलिये महाराजने मेरी वस्तु स्वीकार नहीं की, तो उसके दुःखको दूर करनेके लिये वह वस्तु ले ली जाय तो वह लेना भी न लेनेके समान ही है। इसी प्रकार कोई गृहस्थ है, उसके यहाँ किसीने यह कहलाकर फल आदि भेज दिये कि हमारे लड़केकी शादीके निमित्त आये हुए ये फल आदि आपके लिये भेजे हैं। उनको न लेनेपर यदि उस दाताको दुःख होता है तो वहाँ कुछ ले लेना भी न लेनेके समान है। इसी तरह किसीके यहाँ हम गये और वह हमें अतिथि समझकर सत्कार करता है और हम उसे स्वीकार नहीं करते, हमारे स्वीकार न करनेसे उसे दुःख होता है, तो उस हालतमें हम उसकी दी हुई वस्तु स्वीकार कर लें तो यह लेना न लेनेके ही समान है।

अपने स्वार्थके लिये दूसरेसे सेवा स्वीकार करना तो सकाम है, किंतु उसकी प्रसन्नताके लिये स्वीकार कर लेनेमें दोष नहीं है। हरेक बातमें यह ध्यान रखना चाहिये कि कहीं हमारे भीतर कोई स्वार्थका भाव तो नहीं है। जो स्वार्थका भाव है, वही हानिकर है। जैसे—अपने लड़के, नौकर या स्त्रीसे काम ले लेते हैं, न लेनेसे उनको दुःख होता है तो उनसे काम करवाना, सेवा लेना न लेनेके समान ही है। हरेक विषयमें ऐसा विचार कर लेना चाहिये कि मैं जो कुछ स्वीकार करता हूँ, वह दाताकी प्रसन्नताके लिये स्वीकार करता हूँ, या अपनी प्रसन्नताके लिये। जहाँ स्वार्थ है, वहाँ सकाम भाव है। यह सकाम भाव निष्कामभावमें कलङ्क है। पर वास्तवमें जो न्यायसे प्राप्त है, उसे स्वीकार कर लेनेमें दोष नहीं है। उत्तम कोटि वह है कि अपनी प्रसन्नताके लिये नहीं, दूसरोंके संतोषके लिये हम स्वीकार करें, वह हमारा निष्कामभाव है।

इसके सिवा यह भी विशेषरूपसे ख्याल रखना चाहिये कि अपने मनके अनुकूल जो कुछ प्राप्त होता है, उसमें तो राग होता है और जो अपने मनके प्रतिकूल प्राप्त होता है, उसमें द्वेष होता है। किंतु जहाँ राग-द्वेष है, वहाँ निष्कामता नहीं है। अतएव हरेक काम करते समय राग और द्वेषका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। राग-द्वेषसे रहित होकर विषयोंमें विचरण करना भी कल्याणकारक होता है। यहाँ विषयोंमें विचरणका अर्थ है—राग (रस) बुद्धिसे रहित हो विषयोंका न्याययुक्त सेवन। जैसे भोजनादि करना न्याययुक्त है, शरीरनिर्वाहके लिये आवश्यक और उचित है। विषयोंमें विचरण करना, इस कथनमें आसक्ति झलकती है, इसलिये साथमें यह कहना पड़ता है कि विषयोंमें विचरण करनेका अर्थ आसक्ति-रस-बुद्धिसे विषयोंका ग्रहण नहीं समझना चाहिये। किसी भी प्रकारकी कामना न रखकर केवल शरीरनिर्वाहमात्रके लिये उचित खान-पान आदि विषयोंमें जो विचरण करना है, वह निष्कामभाव है। गीतामें बतलाया गया है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥
(२। ६४-६५)

भाव यह कि जिनमें राग-द्वेषका नाम-निशान नहीं है और जो अपने वशमें है, ऐसी इन्द्रियोंके द्वारा

जिसका मन भी अपने वशमें है, वह पुरुष विषयोंमें विचरण करता हुआ प्रसादको प्राप्त होता है यानी उसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है और अन्तःकरण शुद्ध होनेसे चित्तकी प्रसन्नता होती है। उस सात्त्विक प्रसन्नतासे सारे दुःखोंका नाश हो जाता है और उसकी बुद्धि परमात्माके स्वरूपमें या यों कहें निष्कामकर्मयोगकी निष्ठामें शीघ्र ही स्थित हो जाती है, जिससे वह परमात्माको प्राप्त हो जाता है। निष्कामभावकी यह महिमा है।

यहाँ जो विषयोंमें विचरण करना है—उसमें कोई आसक्ति नहीं होती, कोई कामना नहीं होती, कोई राग-द्वेष नहीं हुआ करता। यहाँ तो केवल अपना कर्तव्य समझकर ही वह न्याययुक्त कर्मोंका आचरण करता है। बिना राग-द्वेषके ही केवल इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंमें विचरण करता है। ऐसा आचरण करनेसे उसका कल्याण हो जाता है। भगवान् कहते हैं—

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥
(गीता २। ७१)

'जो मनुष्य सम्पूर्ण कामनाओंका त्याग करके स्पृहा (आसक्ति)से रहित होकर और ममता तथा अहंकार-से रहित हो विचरण करता है, वह उस यथार्थ शान्ति-को प्राप्त होता है, जो शान्ति परमात्माकी प्राप्ति होनेपर मिलती है।' इससे पूर्वके ७०वें श्लोकमें भी आया है—**'स शान्तिमाप्नोति न कामकामी'**—वह इस वास्तविक शान्तिको प्राप्त होता है, कामना करनेवाला कामी पुरुष कभी शान्तिको प्राप्त नहीं होता। अतः यहाँ उसकी वास्तविक शान्तिकी प्राप्तिका वर्णन है। इस प्रकार केवल निष्काम-कर्मयोगके अनुष्ठानसे मनुष्यका परम कल्याण हो जाता है, फिर साथमें भक्तिका सम्मिश्रण हो, तब तो फिर बात ही क्या है।

वैष्णव आगमोंमें निष्काम-कर्मयोग

(२)

(लेखक—डॉ० श्रीसियारामजी सक्सेना, 'प्रवर', एम्० ए० [अंग्रेजी-हिन्दी], साहित्यरत्न, आयुर्वेदरत्न)

(गताङ्क पृष्ठ संख्या ९१से आगे)

ब्रह्मवादके नामपर वर्णाश्रम-विधानकी समस्त क्रियाओंका लोप करनेवाले व्यक्ति लोक-कण्टक ही हैं। धर्म-कर्म-विहीन व्यक्ति पापका ही अनुसेवन करते हैं।[३५] ब्रह्मज्ञत्वके अभिमानसे धर्म-कर्म-बहिर्मुख हुए ऐसे व्यक्ति कहते हैं कि 'ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है और यतः जगत् मिथ्या है, अतः शुभाशुभ कर्म क्यों करें?' ऐसे दुराशय व्यक्ति ब्रह्मवादके विलाससे अपना ज्ञानीपन बघारते हैं। वे वास्तविक ज्ञानसे हटकर धर्मोच्छेदका उद्यम करते हैं।[३६]

प्रबुद्धके कर्म बताते हुए माहेश्वरतन्त्र प्रथमतः प्रबोधका स्वरूप स्पष्ट करता है। बातोंका शब्द-मात्रका प्रबोध वास्तव नहीं है, साक्षात् प्रबोध होनेपर तो देह तत्काल विलीन हो जाता है। शब्द-प्रबोध परमार्थ नहीं है, वह संसार-मोहका नाश करनेमें भी सक्षम नहीं है। दीपककी बात करनेसे अँधेरा कभी नहीं मिटता। जो व्यक्ति शब्दबोधमात्रसे नित्य-नैमित्तिक कर्म छोड़ देता है, वह प्रत्यवायी है और उसे बोध नहीं होता।[३७]

अतः धर्म-कर्म-परायण होकर कृष्णका ही अनु-सेवन करनेवाले कृष्णके प्रिय होते हैं। यह कृष्ण-भक्तिकी वासनाका लक्षण है।[३८] 'माहेश्वर-तन्त्र'के मतमें भगवद्-विरहकी अग्निमें पड़ कर देहका जल जाना

३५—माहेश्वर तं० १६। ६४—६७, ३६—मा० तं० १८। २०—२५, ३७—मा० तं० १६। ५३-५४, ३८—मा० तं० १६। ६७-६८,

ही आत्म-बोध है, अन्य सब तो शाब्द-बोधमात्र है।[३९] पारमेश्वर-संहिता नित्य कर्मरत भक्तोंकी महिमा[४०] तथा नित्य-नैमित्तिक कर्मोंकी आवश्यकता[४१] प्रतिपादित करती है। क्रिया-लोभसे मनुष्य पतित हो जाता है। इसी प्रकार अज्ञानपूर्वक किये हुए कर्मसे तथा कर्मका अनादर करनेसे भी पतन होता है।[४२]

परम संहिताके अनुसार शास्त्र-दृष्ट नित्यकर्म ही भागवतोंका आचार है।[४३] अतः धर्मोक्त नित्यकर्म निरालस होकर सप्रयत्न करते रहना चाहिये।[४४] नैमित्तिक कर्म सविधि वर्ष-पर्यन्त करनेपर श्रीविष्णु सायुज्य प्रदान करते हैं।[४५] कर्मोंके सम्बन्धमें कोई निश्चय नहीं होनेपर अर्थात् किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जानेपर भगवत्प्रपन्न हो जाना चाहिये।[४६] यही शास्त्रका निर्देश है। धर्ममय कर्मके द्वारा आराधित देव जन्मान्तरमें भी उपद्रव-नाश और सम्पत्ति-संवर्धन करते हैं। प्रभुकी कृपाके बिना इन्द्रियोंपर नियन्त्रण नहीं हो सकता, अतः देवकी शरणमें जाओ।[४७]

'महानिर्वाणतन्त्र'का कथन है कि फल-प्रापक कर्म शुभ और अशुभ दो प्रकारके होते हैं। अशुभ कर्मसे तीव्र पीड़ा प्राप्त होती है। फलासक्तिपूर्ण शुभ कर्म भी आवागमनकी शृंखलामें बाँध देते हैं। शुभाशुभ कर्म सोने और लोहेके पाश हैं; क्योंकि मोक्ष ज्ञानसे ही होता है और ज्ञान-प्राप्तिके लिये कर्म-नाश होना अत्यन्त आवश्यक है, अतः इन दोनों पाशों—शुभाशुभ कर्मोंका क्षय हुए बिना निर्बन्धता (मोक्ष)की प्राप्ति नहीं हो सकती।[४८]

ज्ञानमयी निष्कर्मता

महानिर्वाणतन्त्रमें कहा है कि निष्कामियोंको मोक्ष होता है—**अकामानां पदं मोक्षः।**[४९] निष्काम कर्मका फल अनन्त निर्वाण है, जब कि सकाम कर्मका फल क्षीण होनेवाला होता है।[५०] शास्त्रोंने कर्म-विधान चित्त-शुद्धिके लिये किया है। किंतु यहाँ यह स्मरणीय है कि ब्रह्म-ज्ञान और कर्म-संन्यासके बिना कभी मुक्ति नहीं हो सकती।[५१] 'महानिर्वाणतन्त्र'ने अपने इस सिद्धान्तको अपनी साधना-विधिमें अवतरित किया है। कहा है कि भैरवी-चक्रसे जागतिक उपलब्धियाँ होती हैं तथा उपासक मृत्युंजय हो जाता है और इसका नित्य अनुष्ठान करनेवाला महानिर्वाणको प्राप्त हो जाता है। यह भोग और मोक्ष दोनोंका साधन है।[५२] किंतु चक्रराज है 'तत्त्व-चक्र', यह सब चक्रोंमें श्रेष्ठ दिव्य चक्र है।[५३] इसके अधिकारी शुद्धान्तःकरण ब्रह्मोपासक हैं, जो सर्वप्राणि-हित-रत रहते हैं और जो तत्त्वविद् चराचरको ब्रह्ममय देखते हैं।[५४] ऐसा व्यक्ति सब कुछ ब्रह्मार्पण करके ब्रह्ममय कर्मकी समाधिसे ब्रह्ममें ही लीन हो जाता है—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥[५५]

इससे स्पष्ट है कि तान्त्रिक साधनाकी सर्वोपरिता ब्रह्मार्पित, ब्रह्मार्थ, ब्रह्माज्ञया, ब्रह्ममय कर्म करनेमें है।

३९—महेश्वर तं० १६। ५५-५६। ४०—पा० सं० ८। २१५। ४१—पा० सं० १२। ३४२, ३५२। ४२—पा० सं० १२। ४५९-४६०। ४३—प० सं० ३। ५७। ४४—पा० सं० ३। ६२—६५। ४५—पा० सं १७। २६। ४६—पा० सं० २९। ३४ किं करोमीति चात्मानं देवायैव निवेदयेत्। ४७—पा० सं १२। ६३-६४। ४८—म० नि० १४। १०७—१११। ४९—म० नि० तं० ८। २० इत्यादि।

५०—कामिनां फलमित्युक्तं क्षयिष्णुं स्वप्नराज्यवत्। निष्कामानां तु निर्वाणं पुनरावृत्तिवर्जितम्॥
(महानिर्वाणतं० १३। ४१)

५१—म० नि० तं० ८। २८७। ५२—म० नि० तं० ८। २००—२०३। ५३—म० नि० तं० ८। २०४—तत्त्वचक्रं चक्रराजं दिव्यचक्रं तदुच्यते॥ ५४—म० नि० तं० ८। २०५—२०८। ५५—म० नि० तं० ८। २१४, तथा गीता ४। २४।

ऐसा कर्म ही निष्कामकर्म या नैष्कर्म्य भी कहा गया है। इस निष्कामकर्मकी चरम अवस्था सर्व-संन्यासमें प्राप्त होती है, जब साधक समस्त कर्मोंको होमकर विदेह हो जाता है, अपने शरीरको मृतवत् समझ लेता है—

चतुर्विंशति तत्त्वानि कर्माणि दैहिकानि च।
हुत्वाग्नौ निष्क्रियं देहं मृतवच्चिन्तयेत् ततः॥[५६]

ऐसे निष्कामकर्मके अनुष्ठानसे या तत्त्व-विचारसे विज्ञानी, निर्मल स्वभाव-साधकोंमें ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। तब समस्त चराचरमें एक ही सत्य परब्रह्मका अवस्थान जानकर वह कर्म-बन्धनसे छूटकर नित्य-सुखका भोग करता है।[५७] तब विश्वकी सेवा परमात्माकी ही अर्चा हो जाती है—

एकमेव परं ब्रह्म जगदावृत्य तिष्ठति।
विश्वार्चया तदर्चा स्याद् यतः सर्वं तदन्वितम्॥[५८]

यदि कोई साधक यह अवधारणा कर ले कि सब कुछ ब्रह्ममय है, तो किसी भी देवताकी पूजा करके और सकाम कर्म करके भी वह ब्रह्मलीनताको प्राप्त कर लेता है, क्योंकि इस प्रकार उसका कर्म निष्काम तथा ज्ञान-रूप हो जाता है, उसका कर्म करना या न करना दोनों एक ही हो जाते हैं।[५९]

बृहद्ब्रह्मसंहितामें ज्ञानाधृत निष्काम कर्मयोगकी भक्ति-उन्मुखताका सम्यक् प्रतिपादन हुआ है। शब्द-ब्रह्मकी समाराधना करनेपर ब्रह्मकी प्राप्ति होती है।[६०] प्रणवाभ्यासपूर्वक हरिध्यानरूप साधन ही भक्ति है। भक्तिके द्वारा मानवकी गति साम्यमयी हो जाती है। वह पुण्य और पापका निकृन्तन करके तथा उपाधिरहित होकर परम साम्यको प्राप्त होता है। तदनन्तर भक्ति-कैवल्यभावसे अनन्य चित्त होकर जो नित्य भगवत्-स्मरण करता है, उस नित्ययुक्त योगीके लिये भगवान् सुलभ हो जाते हैं और उसका भगवान्‌से नित्य-संयोग होता है।[६१] जो व्यक्ति भगवान्‌के अतिरिक्त अन्य किसी विश्व-सुखको नहीं जानता और गुण-त्रय-विवर्जित महालीला-रसको जानता है, वही मुक्त है।[६२]

भगवान्‌को नमस्कार करना भी एक प्रकारसे निष्काम-कर्मी हो जाना है। 'म'का अर्थ है—ममत्व और 'न'का अर्थ है उसका निषेधी। अतः नमःका अर्थ है—ममत्वको सम्पूर्णतया त्यागकर भगवान्‌के शरणागत हो जाना। नमःके पाँच पर्याय हैं—यह पूर्वोक्त अर्थ (ममत्व-त्याग), न्यास, प्रपत्ति, शरणागति और आत्मार्पण।[६३] आत्मार्पक शरणागतमें सकामता कहाँ रहेगी? आगे स्पष्ट कहा गया है कि वैष्णवजन आत्म-लाभके लिये कर्तृत्व-फल-संयोगका त्याग कर याग किया करें।[६४]

निष्कर्मताका अर्थ कर्म-त्याग नहीं है। कर्म-त्याग भगवान्‌का आदेश भी नहीं है। देहधारी कर्मरहित रह ही नहीं सकता। आत्म-सिद्धिके लिये भी लोक-संग्रह, अर्थात् विवेकपूर्ण लोकाचार अनिवार्य है। जो व्यक्ति लोक-संग्रहका ध्यान नहीं रखता, वह भगवद्धर्मका उल्लङ्घन करता है। लोकाचार-पथकी रक्षा यत्नपूर्वक आदेहपात करनी ही चाहिये। इसलिये भगवान् स्वयं भी कर्मका त्याग नहीं करते। आचार मुख्य धर्म है।

वेद-पुराण-आगम-मार्गमें भगवत्प्राप्तिके साधन—कर्म, ज्ञान और उपासना हैं। जो कर्म कर्तृत्वके अभिमानसे या फलके उद्देश्यसे किया जाता है, वह कर्मियोंके लिये बन्धनकारी होता है। वह अज्ञानजन्य कर्म ब्रह्मात्मक नहीं है, उसका फल दुःख, क्षर और जन्मकारी होता है। अतः भगवान्‌के स्वरूपका ध्यान रखते हुए और अपनेको प्रकृति-संयोगके कारण बद्ध, अल्पज्ञ,

---

५६—म० नि० तं० ८। २५४। ५७—म० नि० तं० १४। ११२—११४ ५८—म० नि० तं० १०। २०९—२११। ५९—म० नि० तं० १०। २१०। ६०—बृ० ब्र० सं० । ४४। ६१—बृ० १६। ब्र० सं० २। ६। ४५—५५। ६२—बृ० ब्र० सं० २। १। ९२—९३। ६३—बृ० ब्र० सं० २। ५। ६०—६२। ६४—बृ० ब्र० सं० ४। ३। १३७।

असुखात्मक जानकर अविद्या-कर्मकी शांतिके लिये जीव नारायणकी आज्ञासे नित्य-नैमित्तिक कर्म करता रहे। अपने वर्णके अनुसार प्राप्त कर्म करे, अन्य कर्मोंसे निवृत्त हो जाय। नारायणात्मक कर्म कर्मबन्ध-निवर्तक है। वह ज्ञानके समान है, अतः मुमुक्षुओंके द्वारा सदा सेव्य है। इष्टापूर्त्त कर्म निष्काम-लक्षण हैं। ऐसे कर्म भी भगवान्के उद्देश्यसे ही करने चाहिये।

संसारमें ऐसा कोई नहीं है, जो श्रीहरिके बिना कोई भी चेष्टा कर सकता हो। चिदचिदात्मक सब उन्हींके प्रकाशसे प्रकाशित हैं। अतः आत्मामें और सबमें ब्रह्मात्म-भावना करे। कर्तृत्व, कर्म-ममत्व और फल-संयोगका त्यागकर ब्रह्मात्मक कर्म करे। ऐसा कर्म ज्ञानरूप होता है। इसे देह-स्थितिपर्यन्त व्यापी वासुदेवके स्वरूपका चिन्तन करते हुए करना चाहिये।

आत्मासे इतर सब अनित्य है—इस भावनासे किया हुआ ज्ञानात्मक कर्म बन्धक नहीं होता। स्वर्गादिफल नाशवान् हैं, किंतु यह आत्मगतिरूप फल नश्य नहीं है और इसमें तथा इससे कोई नया कर्म भी उत्पन्न नहीं होता। इस आत्मज्ञानमय कर्मसे आत्म-अन्तरायकारी दुष्ट कर्मका निवारण हो जाता है और आत्म-स्थिति प्राप्त होती है। ऐसे ब्रह्मभाव-प्राप्त स्थितप्रज्ञके लिये कोई कर्तव्य शेष नहीं रह जाता। यह कर्मयोग सुकर है; क्योंकि इसमें श्रद्धामात्र अपेक्षित है। (क्रमशः)



श्रीमद्भगवद्गीताके अनुसार गुणातीत या ज्ञानीके चौदह लक्षण

[साधक पहले ज्ञान-सम्पन्न होता है और तब वह लोक-संग्रहार्थ विश्वजनीन कार्योंमें अनासक्त होकर लगा रहता है। तब वह कर्मयोगी कहा जाता है। किंतु जब वह कर्म-संन्यास कर देता है तो केवल ज्ञानी रह जाता है। तत्त्वतः दोनोंके भीतरीभाव समान होते हैं। गीताके चौदहवें अध्यायके २२से २६वें श्लोकतक जो चौदह लक्षण गुणातीत या ज्ञानीके लिये बताये गये हैं; उनके संक्षिप्त हिंदी रूपान्तर साधकोंके लिये उपयोगी हैं, अतः यहाँ दिये जा रहे हैं।]

१-जो तीनों गुणोंके कार्य प्रकाश, प्रवृत्ति और मोहसे उदासीन रहता है;

२-जो साक्षीकी भाँति रहकर गुणोंके द्वारा विचलित नहीं होता;

३-जो गुण ही गुणोंमें बर्त रहे हैं, ऐसा समझकर अपनी आत्मस्थितिमें अचल रहता है;

४-जो सुख-दुःखको समान समझता है;

५-जो स्व-स्वरूपमें सदा स्थित रहता है;

६-जो मिट्टी, पत्थर और सोनेको समान समझता है;

७-जो प्रिय और अप्रियको एक-सा समझता है;

८-जो किसी भी अवस्थामें अधीर नहीं होता;

९-जो अपनी निन्दा-स्तुतिको समान समझता है;

१०-जो मान-अपमानको समान समझता है;

११-जो शत्रु और मित्रमें भेदभाव नहीं रखता;

१२-जो सभी कर्मोंके आरम्भमें कर्तापनके अभिमानसे रहित है;

१३-जो अनन्यभक्तिसे परमात्माका स्वाभाविक ही सेवन करता है;

१४-जो गुणोंकी सीमाको लाँघकर ब्रह्ममें स्थित हो जाता है;

ऐसे लक्षणोंसे सम्पन्न साधक जन्म-मृत्यु, जरा (बुढ़ापा) आदिके दुःखोंसे मुक्त होकर अमृतत्वको प्राप्तकर लेता है।



गीतोक्त कर्मयोग और आधुनिक कर्मवाद

(नित्यलीलालीन परम श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके अमृत-वचन)

जिस कर्मयोगको भगवान्‌ने, **'कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते'** (गीता ५ । २) कर्मसंन्याससे श्रेष्ठ बतलाया, जिसका आचरण करनेवालोंके लिये **'जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्'** (गीता २ । ५१) जन्म-बन्धनसे छूटकर अनामय (अमृतमय) परमपदकी प्राप्ति बतलायी, वह गीतोक्त कर्मयोग क्या आधुनिक कर्मवाद ही है ? आजकल जगत्‌के विशिष्ट शिक्षित पुरुष जिस कर्मवादके पीछे मुग्ध हैं, जीवनभरमें कभी जिन्हें इन प्रश्नोंपर विचार करनेके लिये फुरसत ही नहीं मिलती या जो विचार करना आवश्यक ही नहीं समझते कि 'ईश्वर क्या है, प्रकृति क्या है, जगत्‌का क्या स्वरूप है, हम कौन हैं, कहाँसे आये हैं ?' ऐसी बातोंकी कल्पना करना जिनके मन-समयका दुरुपयोग करना है और जो रात-दिन केवल भौतिक उन्नतिका आदर्श सामने रखकर ही अपनी-अपनी जातिकी, अपने देशकी और संसारकी भौतिक उन्नतिके लिये, पार्थिव भोग-पदार्थोंकी प्राप्ति और उनके उपार्जनके लिये कर्ममें लग रहे हैं, एक मिनटके लिये भी जिनको कर्मसे अवकाश नहीं है, उनका वह कर्म क्या गीतोक्त कर्मयोग है ? आजकल कुछ लोग ऐसा ही समझते हैं या सिद्ध करना चाहते हैं कि गीतामें इसी कर्मयोगकी शिक्षा दी गयी है। इसीलिये वे अपनी या परायी ऐहिक उन्नतिके लिये कामासक्तिपूर्वक अनवरत कर्मप्रवाहमें बहते हुए मनुष्योंको 'कर्मयोगी'की पदवी देते हैं और गीताके श्लोकोंसे इसका समर्थन करना चाहते हैं। अतएव इस विषयपर कुछ विचार करना आवश्यक हो गया है।

आधुनिक कर्मवादका स्वरूप

इस कर्मवादके स्वरूपके सम्बन्धमें नाना मतभेद हैं और इसमें अनेक प्रकारके परिवर्तन भी हो रहे हैं। इसका उत्तम स्वरूप यह हो सकता है—

कर्म मनुष्यकी उन्नतिका मूल है, कर्मसे ही मनुष्य अपना, देशका और दोनोंका दुःख दूरकर सबको सुखी बना सकता है; अतएव किसी भी दूसरेपर कुछ भी भरोसा नहीं करके मनुष्यको निरन्तर कर्ममें ही लगे रहना चाहिये। जगत्‌का सार दुःख केवल कर्मसे ही दूर हो सकता है। अतएव सबको सुख मिले, सबको समानरूपसे भोगपदार्थोंकी प्राप्ति हो, ऐश्वर्य, बल, विद्या, कला, विज्ञान आदिकी वृद्धि हो, सबकी आवश्यकताएँ पूरी हों। इसके लिये सबको सब प्रकारसे आलस्य छोड़कर दुःख-कष्टकी चिन्तना न कर, सदा उत्साह और उल्लासपूर्वक कर्म करते रहना चाहिये। यही मनुष्यका कर्तव्य या धर्म है।

इस कर्तव्यके पालनमें विविध कर्मोंके नानाविधि स्वरूप बन गये हैं। कोई कहता है कि केवल विज्ञानसे ही सबकी उन्नति हो सकती है—रेल, जहाज, तार, टेलीफोन, बेतारका तार, वायुयान आदि अनेक प्रकारके परम अद्भुत यन्त्र और अन्य आवश्यक उपकरणोंसे संसारके सभी क्षेत्रोंमें बहुत कुछ सानुकूलता हो गयी है। यह विज्ञानका ही फल है। इसके अतिरिक्त रक्षक, संहारक अनेक प्रकारके सुख-साधनकी वस्तुएँ अस्त्र-शस्त्रादि विज्ञानने आविष्कृत किये हैं। इनसे हम अपनी रक्षा और विपक्षका संहार सहज ही कर सकते हैं और नाना प्रकारसे सुखोपभोग करते हुए जीवन बिता सकते हैं, अतएव विज्ञानकी उन्नतिके कर्ममें लगे रहना चाहिये। ये सब कर्मके ही करामात हैं। उसकी उपयोगिता निर्विवाद है।

कोई कहता है, विज्ञानने मनुष्यको आलसी, विलासी, हिंसक और पक्षपाती बना दिया है। विज्ञानके फलसे ही यन्त्र बने और यन्त्रोंके कारण ही पूँजीवाद और

मजदूरवादकी सृष्टि हुई। कुछ लोगोंके पास धन आ गया और शेष जनताका बहुत बड़ा भाग भूखों मरने लगा। अतएव विज्ञानकी ओरसे मन हटाकर यन्त्र-सभ्यताका नाश कर ग्राम-जीवनको सुधरे हुए आदर्शपर प्रतिष्ठित करना चाहिये। इसीमें सबका कल्याण है। यही वास्तविक कर्म है।

कोई कहता है कि देशकी रक्षाके लिये कानून, शस्त्रास्त्र और सेनाकी बड़ी आवश्यकता है; इसलिये इनकी वृद्धिमें लगना चाहिये और कोई इनसे संसारका अमङ्गल समझकर अधिकाधिक कानून शस्त्रास्त्र और सेनाका विरोध करते हैं। कोई साम्राज्यवादी हैं तो कोई प्रजाराज्यवादी। कोई विषमतासे भलाई मानते हैं तो कोई व्यवहारमें पूर्ण समता चाहते हैं—'**मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना।**'

इस प्रकार नाना रूपोंमें कर्मका आश्रय लेकर आधुनिक जगत् कर्म और कर्मीकी पूजामें लगा है। इन सबके कर्मका स्वरूप कुछ भी हो, परंतु ईश्वर और धर्मकी आवश्यकता इनमेंसे किसीको (भी मान्य) नहीं है। कहीं अत्यन्त गौणरूपमें ईश्वर और धर्मकी बात सुनायी पड़ती है तो वह भी इस ऐहिक उन्नतिके लिये ही वरं पाश्चात्त्य शिक्षाप्राप्त लोगोंमें तो अधिकांशतः यही मानते हैं कि ईश्वर और धर्मकी बात करना या सुनना केवल व्यर्थ ही नहीं है, पतनका कारण भी है। इन पुराने विश्वासों-वहमोंको सर्वथा नष्टकर नवीन युगकी नवीन कल्पनाओंपर ही विश्वास करना चाहिये। इसीलिये आज चारों ओर क्रान्ति और अशान्ति है एवं इन्हीं क्रान्ति एवं अशान्तिके कार्योंको 'कर्मयोग', और दिन-रात इनमें लगे हुए लोगोंको 'कर्मयोगी' कहा जाता है! यह संक्षेपमें वर्तमान कर्मवादका स्वरूप है। पर कर्मवाद क्या है, इसे और गहराईसे समझना चाहिये।

*

गीतोक्त कर्मयोगसे आधुनिक कर्मवादकी तुलना—

गीताका कर्मयोग—अवश्य ही गीतामें किसी व्यक्ति, जाति, देश या विश्वके हितके लिये कर्म करनेका कहीं भी निषेध नहीं किया है, वरं स्वधर्म-पालन और सर्वभूतहितमें रत रहनेकी ही आज्ञा दी गयी है। परंतु गीताकी दृष्टिमें कर्मके बाह्य स्वरूपका इतना महत्त्व नहीं है, जितना कर्ताकी बुद्धिका है। कर्म बाहरसे मृदु हो या कठोर, लोकदृष्टिमें अनुकूल हो या प्रतिकूल, प्रेम हो या युद्ध, भोग हो या त्याग, यदि उसमें ज्ञान, भक्ति और समत्व है तो वही कर्मयोग है।

श्रीभगवान्ने (गीता १८।४६ में) कहा है—

'जिससे समस्त भूतोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त विश्वब्रह्माण्ड व्याप्त है, अर्थात्—जो स्वयं विश्वरूपमें प्रकाशित है, उस (परमेश्वर-) की अपने कर्मद्वारा पूजा करके मनुष्य परमसिद्धिको प्राप्त होता है।'

इसमें ज्ञान और भक्तिसे युक्त कर्मकी व्याख्या है। यह जान लेना होगा कि श्रीभगवान् ही जगत्‌भरमें व्याप्त हैं और मनुष्यको उन्हींकी पूजा करनी है. समस्त कर्म उन्हींकी पूजाके लिये है। कौनसे कर्म? केवल जप-तप, पाठ-पूजा ही नहीं, जिसका जो स्वकर्म हो, जिसके लिये जो कर्तव्य हो, उन्हींसे भगवान्‌की पूजा होगी। अर्जुन-क्षत्रियके लिये धर्मयुद्ध ही कर्तव्य है, वहाँ रणाङ्गणमें आततायी प्रतिपक्षियोंका वध करके उनके रक्तसे ही कालरूपसे प्रसिद्ध भगवान्‌की पूजा करनी होगी। तुलाधार वैश्य क्रय-विक्रयरूप व्यापारसे भगवान्‌की पूजा करता है। धर्मव्याध सेवाद्वारा भगवान्‌को पूजता है, याज्ञवल्क्य संन्यास और ज्ञानद्वारा उनकी पूजा करते हैं। जनकने राज्यपालन करके उन्हें पूजा। ब्रह्मचारी गुरुसेवा और विद्याध्ययनद्वारा भगवान्‌की पूजा करे। यह आवश्यक नहीं कि पूजाकी सामग्री एक-सी हो; आवश्यकता है पुजारीके हृदयके भावकी। यदि

वह भगवान्‌के स्वरूपको समझकर भगवान्‌की पूजाके लिये किसी फलके लिये नहीं—किसी कर्ममें आसक्त होकर नहीं—केवल यज्ञार्थ (भगवदर्थ) किसी भी कर्तव्यकर्मको करता है तो वही कर्मयोगी है। यह स्मरण रखना चाहिये कि ऐसे कर्मयोगीसे वास्तविक लोकहितके विपरीत कर्म या पाप-कर्म कदापि नहीं बन सकते। अमृतसे कोई मरे तो गीतोक्त कर्मयोगीसे किसीका अहित हो !

इसी कर्मयोगकी व्याख्या (परिभाषा) भगवान्‌ने (गीता २के ४७-४८ श्लोकोंमें) की है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥
योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥

'अर्जुन ! तेरा कर्म करनेमें अधिकार है, फलमें कदापि नहीं, कर्मफलके हेतुसे कर्म न करे, (परंतु) कर्म न करनेमें भी मन न लगा (—आग्रह न कर)। आसक्तिको त्यागकर सिद्धि-असिद्धिमें सम होकर—योगमें स्थित होकर (भगवान्‌के चिन्तनमें चित्त लगाये हुए ही) कर्म कर। यह समत्व ही योग कहा जाता है। (क्रमशः)

वास्तवमें कर्म करनेमें ही मनुष्यका अधिकार है, कर्मफलमें उसका अधिकार नहीं है। कोई भी मनुष्य अधिकारपूर्वक यह नहीं कह सकता कि मैं केवल कर्म करके ही अमुक फल प्राप्त कर लूँगा। किसान खेत जोतकर उसमें बीज तो डाल सकता है; पर उसमें अनाज उत्पन्न होना उसके हाथमें नहीं है। अनावृष्टि, अतिवृष्टि, चूहे, टिड्डी, पाला आदिसे पकी-पकायी फसल भी नष्ट हो सकती है। फिर भी उसे खेत जोतकर बीज तो डालना ही चाहिये; क्योंकि यह उसके सामर्थ्य (अधिकार)की बात है और यही उसका कर्तव्य है। इसपर भी यह प्रश्न हो सकता है कि जब फल अपने हाथमें नहीं है, तब कर्म ही क्यों किया जाय ? चुपचाप बैठे रहनेसे भी जो होना होगा, सो हो ही जायगा।' इसीलिये भगवान्‌ने पहलेसे सावधान कर दिया कि 'कर्म'-त्यागकी ओर तेरा मन नहीं लगना चाहिये; क्योंकि कर्ममें मनुष्यका अधिकार है। यद्यपि जगत्‌में सब कुछ भगवान्‌की इच्छासे ही होता है। जगत्‌के कर्मजाल उन लीलामयकी ही सारी लीला हैं, तथापि वे मनुष्यको निमित्त बनाते हैं—इसीलिये उसे कर्मका अधिकार दिया गया है। कौरवोंको भगवान्‌ने पहलेसे ही मार रखा था, विराट्स्वरूपमें अपनी विकराल दाढ़ोंमें सबको चूर्ण अवस्थामें दिखला भी दिया, अर्जुन निमित्त न बनते तब भी उनका संहार होता ही, परंतु अर्जुनको निमित्त बनाकर ही भगवान्‌ने उनका संहार करवाया। अतएव मनुष्यको अपने अधिकारके अनुसार कर्म करना चाहिये, परंतु फलकी आशासे नहीं। अवश्य ही कर्म बिना उद्देश्यके नहीं होता; इसलिये मनुष्यके कर्ममें भी कोई उद्देश्य या लक्ष्य रहेगा। व्यापारमें धन मिले, युद्धमें जय हो, दवासे रोग नष्ट हो, यह उद्देश्य व्यापार, युद्ध और औषध-सेवनमें है, कर्मकी सफलताकी ओर दृष्टि है, परंतु वास्तवमें फल कुछ भी हो, धन मिले या न मिले, जय हो या पराजय हो, रोग दूर हो जाय या बढ़ जाय, उसका उसमें समान भाव है। क्योंकि वह आसक्ति और कामनाके वश होकर कर्म नहीं करता, उसके कर्ममें इन कामनाओंकी प्रेरणा नहीं है, उसके कर्म-प्रेरक भगवान् हैं, वह भगवान्‌की पूजाके लिये ही स्वकर्म या स्वधर्मका पालन करता है। उसका राज्य-ग्रहण या संन्यास दोनों भगवान्‌के लिये ही होते हैं। सब प्रकारकी आसक्ति, सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजयको समान समझकर भगवान्‌के साथ योगयुक्त होकर कर्म करना ही गीतोक्त कर्मयोग है। इसमें भगवान्‌का ज्ञान है, भगवान्‌की भक्ति है और फलमें सर्वथा समत्व है। इसीलिये भगवान्‌ने (गीता २। ३८ में) कहा है—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥

'सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजयको समान समझकर तदनन्तर युद्धमें प्रवृत्त हो ऐसा करनेसे तुझे पाप नहीं लगेगा।' ऐसा न करनेसे पापकी सम्भावना है; क्योंकि कामना और आसक्तिके वश होकर केवल फलानुसन्धानमें लगे रहकर कर्म करनेसे धर्म और ईश्वरका ध्यान छूट जाता है, जिससे मनुष्य आरम्भमें विश्वहित या देशहित आदि उत्तम उद्देश्यके होनेपर भी काम, क्रोध, द्वेष, हिंसा आदिके अधीन होकर लक्ष्यभ्रष्ट हो जाता है और आसुरी भावके साम्राज्यमें पहुँचकर असुरवत् कार्य करता हुआ नरकका भागी होता है।

आजके कर्मवादके पीछे विमुग्ध जगत्के लोगोंमें प्रायः इन्हीं लक्षणोंकी प्रधानता मिलेगी। ईश्वर और धर्मके बहिष्कार या विनाशकी दर्पपूर्ण कर्मचेष्टा, ईश्वर और धर्मके नामपर भोगसुख प्राप्त करनेका दम्भपूर्ण प्रयत्न, व्यक्तियों, जातियों, राष्ट्रोंमें परस्पर विनाश करनेकी हिंसामयी नीति, यूरोपका द्वेष-लोभ-पूर्ण गत भीषण महायुद्ध और आगामी विश्वव्यापी महायुद्धका वर्तमान 'उद्योगपर्व'के आदरसे द्वेष-परवश हो बल बढ़ानेकी चेष्टामें लगे रहनेपर भी ऊपरसे मैत्री और शस्त्र-संन्यासकी पाखण्डभरी चेष्टा, दबे हुएको दबाने और उठते हुएको गिरानेकी अभिमानपूर्ण प्रक्रिया, प्राकृतिक-अमिट, भेदमें अभेद-स्थापनकी और नित्य अचल अभेदमें भेद-स्थापनकी अज्ञानमयी चेष्टा, पुरातन सर्वथा मिटाकर नवीन शृङ्खलाविहीन जीवनकी प्रतिष्ठाका प्रयत्न, अपनेसे भिन्न मत रखनेवालोंको गालियाँ देना और नीचा दिखानेका प्रयास करना, परलोक, प्रारब्ध, ईश्वर और सदाचारकी कुछ भी परवा न कर केवल भोग-पदार्थोंकी प्राप्तिके लिये मर्यादारहित मनमाना आचरण करना आदि कार्योंसे इसका पूरा परिचय मिल जाता है। इसमें उनकी नीयतका दोष नहीं है, वस्तुतः ईश्वरको भुलाकर केवल इहलौकिक सुखकी प्राप्तिके हेतुसे, भोगपदार्थोंके संग्रहके हेतुसे किये जानेवाले कर्मोंमें ऐसा होना स्वाभाविक है। इसीलिये यह समझ लेना चाहिये कि गीताका कर्मयोग ईश्वररहित और आसक्ति तथा कामनायुक्त कर्मवाद नहीं है। गीताका कर्मयोग इससे बिल्कुल अलग है। वहाँ तो अर्जुनको भगवान्ने (गीता ३। ३०में) स्पष्ट आज्ञा दी है कि—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥

'अर्जुन! तू मुझमें संलग्न किये हुए चित्तसे समस्त कर्म मुझमें अर्पित करके आशारहित और ममतारहित होकर एवं मनस्तापसे मुक्त होकर युद्ध कर।' श्रीभगवान्को केवल युद्ध करनेकी आज्ञा है, परंतु न राज्यमें ममत्व रहे, न विजयकी आशा रहे और न अभावजनित संतापसे चित्त जले। चित्त भगवान्में लगा है और उन्हींके आज्ञानुसार उन्हींकी प्रेरणासे निष्कामभावसे युद्ध हो रहा है। इस गीतोक्त कर्मयोगसे आधुनिक कर्मवादकी तुलना कैसे की जा सकती है?

यह सत्य है कि गीता जिस प्रकार ज्ञानकी अवहेलना नहीं करती, इसी प्रकार संसारकी और सांसारिक कर्तव्यकर्म, जीविका, कुटुम्ब-पालन, माता-पिताकी सेवा, जातिसेवा, देशसेवा, आर्त्त-सेवा मानवीय अधिकार और धर्मके लिये युद्ध, दुर्बल-रक्षा, अत्याचारोंका दमन, अन्यायका विरोध, परोपकार अथवा वर्णाश्रम-धर्मका यथाविधि पालन आदि किसी भी नैतिक धर्मका किंचित् भी विरोध नहीं करती; प्रत्युत इनके लिये उत्साहित करती है और स्वधर्मपालनके लिये क्षत्रिय अर्जुनको हँसते-हँसते जीवनकी बलि चढ़ा देनेतकके लिये आज्ञा करती है। भगवान् अर्जुनसे कहते हैं— 'तुम आत्माके अमरत्व और सिद्धि-असिद्धिमें समत्वभाव-

को मनमें रखकर, भगवान्‌को समझकर, भगवान्‌के लिये वीरकी भाँति युद्ध करो, रणक्षेत्रमें वीरगतिको प्राप्त करो या वीरकी तरह विजय-लाभ करो, परंतु मनमें आसक्ति, कामना, ईर्ष्या, द्वेष, ममता, आशा आदि न रक्खो।' कर्तव्य कर्मके लिये मर-मिटनेका कितना ऊँचा मार्मिक उपदेश है। वस्तुतः आधुनिक कर्मवादसे यह क्षत्रिय-धर्म भी कितना ऊँचा है।

—(अगले अङ्कमें समाप्य)

उपनिषत्प्रोक्त निष्काम-कर्मयोग

(लेखक—डॉ० श्रीसर्वानन्दजी पाठक, एम्० ए०, पी०-एच्० डी० (द्वय), डी० लिट्०, काव्यतीर्थ, शास्त्री, आचार्य, साहित्यरत्न)

भारतमें वैष्णव, शैव, शाक्त आदि अनेक सम्प्रदाय हैं। अन्य देवताओंके भक्त भी जो अपने-अपने इष्टदेवोंमें अपनी नैष्ठिक भक्ति रखकर उन अन्यान्य देवताओंकी पूजा करते हैं, वे भी अनजाने परमात्माका ही पूजन करते हैं और उन-उन देवताओंमें समर्पित भक्तिसे परमेश्वर ही प्रसन्न होकर उनकी मनःकामनाको पूर्ण कर देते हैं। यहाँ पुष्पदन्तकी वह उक्ति स्मरणीय हैं, जिसमें उन्होंने कहा है—प्रभो! त्रयी (वैदिक-मार्ग), सांख्य, योग, पाशुपतमत, वैष्णवमत—सभी आपकी ही प्राप्तिके मार्ग हैं। रुचि-वैचित्र्यके कारण ही 'यह श्रेष्ठ है, वह हितकारी है'—इस प्रकार उनमें पार्थक्य प्रतीत होता है। जिस प्रकार पृथिवीपर गिरा हुआ वर्षाका जल छोटी-बड़ी नदियोंमें, समस्त नदी-नालोंका जल (अन्तमें) समुद्रमें ही जाकर स्थैर्य लाभ करता है, उसी प्रकार सीधे-टेढ़े अशेष साधन-मार्गोंके यात्री साधकोंके गन्तव्य—प्राप्य एकमात्र आप ही हैं[1]।

उपनिषदोंके अनुसार आत्मज्ञानकी उपलब्धि हो जानेपर ज्ञानी आत्मसमाधिमें लीन होकर परमानन्दको प्राप्त होता है और फिर उसे अपनी उन्नति और परमार्थके लिये और किसी भी कर्म करनेकी आवश्यकता नहीं रहती। जो प्राण सब जीवोंके द्वारा प्रकाशमान है, विद्वान् उसको जानकर विवादरहित तथा आत्मक्रीड, आत्मरति, कर्मकर्ता और ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ होता है।

ज्ञान प्राप्त होनेपर ज्ञानीको अपने लिये किसी कर्तव्यकर्म करनेकी आवश्यकता नहीं रहती। उसके लिये कर्म करना या न करना एक-सा है और उसको अपने लिये किसीसे कुछ प्रयोजन नहीं रहता अर्थात् ज्ञान प्राप्त होनेपर सब स्वार्थ या वासनाओंका नाश होकर ज्ञानी परमगतिको प्राप्त हो जाता है और तब उसे किसी बातकी अभिलाषा नहीं रहती[2]।

प्रकृतिके गुणोंके सङ्गसे अज्ञान और बन्धन तथा गुणोंके असङ्गसे या उन्हें पार करनेसे ज्ञान और मोक्ष होता है। इसलिये ऐसा उत्कृष्ट तत्त्वज्ञान परम उत्तम ज्ञान कहलाता है और इसीके जाननेसे योगी मुनियोंने गुणोंके सङ्गका परित्याग कर अथवा गुणातीत होकर आत्मज्ञान और परमगतिको प्राप्त किया था। गुणोंके तत्त्वको समझनेवाले गुणोंको पार करके आत्म-ज्ञानको प्राप्त होते हैं और फिर वे सांसारिक जन्ममरणके दुःखोंसे सदाके लिये छूट जाते या परमानन्दको प्राप्त हो जाते हैं। इस ज्ञानका आश्रय करके ब्रह्मस्वरूप होनेवाले और सनातनब्रह्मको जाननेवाले ब्राह्मण फिर सृष्टिमें उत्पन्न नहीं होते हैं।

१—त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च।
रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव॥
(शिवमहिम्नःस्तोत्रम् ७)

२—मुण्डकोपनिषद् १।३।४

सङ्ग एवं फलाशाको त्यागकर कर्तव्यकर्मको करनेवाला पुरुष योगी एवं संन्यासी दोनों होता है, परंतु यज्ञ एवं अन्य कर्म न करनेवाला न तो योगी होता है और न संन्यासी ही[3]। महाभारतका कथन है कि संन्यास भिक्षा माँगने या मूँड़ मुड़ाने अथवा गेरुआ वस्त्र धारण करने मात्रसे नहीं होता, संन्यास केवल सरलभावसे विषयभोग एवं सुखोंके परित्यागसे होता है[4]। कर्म न करनेसे निष्कर्मता नहीं होती या कर्मबन्धनसे मोक्ष नहीं होता और न कर्मत्यागसे संन्यासकी सिद्धि ही मिलती है। तात्पर्य यह कि कर्मसंन्याससे न मोक्ष होता है और न आत्मसाक्षात्कार ही[5]। यह तो शारीरिक साधन है। मनुष्यका कर्मकर्तृत्व तो क्षणभरके लिये भी नहीं छूटता—वह गुणत्रयके कारण निरन्तर होता ही रहता है।

यह कहना भी ठीक नहीं है कि सांख्य और योग—दोनों भिन्न तत्त्व हैं। अज्ञानी लोगोंका ही कथन है कि सांख्य (वेदान्त या ज्ञानमार्ग) और योग (निष्काम कर्मयोग) दोनों भिन्न-भिन्न या एक दूसरेके विरोधी हैं या ज्ञानमार्गका संन्यास और कर्मयोगका कर्मानुष्ठान ही विधेय है। विद्वान् लोग ज्ञानमार्ग और कर्मयोगको एक ही भाव और गति (फलाशाका त्याग और मोक्ष-प्राप्ति) वाला मानते हैं। अतः किसी एकको—ज्ञानमार्ग या कर्मयोगको करनेवाला दोनों मार्गोंके फल अर्थात्—मोक्षको प्राप्त होता है[6]।

अन्यत्र प्रतिपादनके अनुसार योगसे ज्ञान होता है और ज्ञानसे योग होता है। योग और ज्ञानसे युक्तको कुछ भी दुष्प्राप्य नहीं है। जो योगी पाता है वही ज्ञानीको मिलता है। योग और ज्ञानको जो एक-सा देखता है, वही तत्त्वको जाननेवाला है[7]। जो स्थान सांख्ययोगी पाते हैं, वही कर्मयोगी भी पाते हैं और जो सांख्य और योगको एक-सा देखता है, उसीका देखना यथार्थ है; अर्थात् जो ज्ञानमार्ग और कर्मयोगका ऐसा भाव और गतिको समझता है, वही विद्वान् है और जो ऐसा नहीं समझता या मानता है वह अज्ञानी है[8]।

उपर्युक्त अध्ययनसे स्पष्ट है कि ज्ञानमार्ग और निष्काम कर्म इन दोनों मार्गोंमें कोई भी एक दूसरेके विरोधी नहीं; अर्थात् दोनों एक दूसरेके पूरक हैं।

३–अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः। स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥
(गीता ६। १)

४–त्यागान्न भिक्षुकं विद्यान्न मौण्ड्यान्न च याचनात्। ऋजुस्तु योऽर्थं त्यजति न सुखं विद्धि भिक्षुकम्॥
(महा० १२। १८। ३०)

५–न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते। न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥
(गीता ३। ४)

६–सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः। एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥
(वही ५। ४)

७–योगात् संजायते ज्ञानं ज्ञानाद्योगः प्रजायते। योगज्ञानाभियुक्तस्य नावाप्यं विद्यते क्वचित्॥
यदेव योगिनो यान्ति सांख्यैस्तदभिगम्यते। एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स तत्त्ववित्॥
(अद्भुतरामायण ११। ४३–४४)

८–यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते। एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥
(गीता ५। ५)

निष्काम-कर्मका स्वरूप

(लेखक—पं०श्रीरामअवतारजी 'अभिलाषी', एम्० ए० प्रभाकर, शास्त्री)

लौ (ज्योतिशिखा) अन्धकारको मार-भगाकर भटके प्राणीको सही पथका बोध कराती है। इसीलिये मोमवत्तीका मोम और दीपकका तेल तिल-तिल करके बलिदान हो जाता है। जगत्को प्राणवायु देनेके लिये वायुको अपने-आप स्थिर होनेकी कोई चिन्ता नहीं। सूर्य ब्रह्माण्डको तपानेका काम इसीलिये अबाधरूपमें करता आ रहा है कि जीवन जीवन्त बना रहे। सोम सोमरस देता है। इसी प्रकार प्रकृतिके अन्य अवयव भी जगत्-को कुछ-न-कुछ देते रहते हैं। इसी दानभावनाके कारण वे 'देवता'का गौरव वहन करते हैं।

कर्मकी दृष्टिसे मनुष्यकी तीन श्रेणियाँ हैं—अधम स्थिति, मध्यम स्थिति और उत्तम स्थिति। अधम स्थितिमें मनुष्य पूरी तरह भोग-योनिका रूप धारण करता है। वह येन-केन प्रकारेण मौज उड़ानेके साधन प्राप्त करनेकी युक्तियोंमें लगा रहता है। ऐसे मनुष्य परिवार, समाज और देशपर भारस्वरूप ही होते हैं। मध्यम स्थितिका मनुष्य भोगयोनि और कर्मयोनिका जीव होता है। वह अपने जीवनको सुन्दर और सुखमय बनाये रखनेके लिये ही कर्म करता है; उसे बस केवल अपनी या अपने मोह-परक परिवारकी ही चिन्ता रहती है। ऐसा मनुष्य पड़ोसीके दुखमें भागीदार तभी होता है, जब उसे यह विश्वास हो जाय कि कालान्तरमें उसे पड़ोसीसे सहयोग या लाभ प्राप्त करना है। उसके प्रत्येक कर्मके साथ कोई-न-कोई स्वार्थ होता है, कामना बँधी रहती है। यहाँ-तककि वह अपने परिवारके सदस्योंके लिए भी तभी कोई काम करता है, जबकि भविष्यमें उसे उनसे पूरा फल प्राप्त होनेकी आशा होती है; ऐसा मनुष्य भगवान्के प्रति भी सकामभक्तिका ही पोषक होता है।

मनुष्यकी तीसरी स्थिति निष्काम कर्मयोगीके स्वरूपमें विद्यमान है। वह सदैव ऐसा कर्म करता है कि उसके कर्मसे अन्योंको लाभ पहुँचे। उसके कर्ममें स्वार्थके लिये अधिकार-हनन एवं पर-पीड़ककी भावनाका कोई स्थान नहीं होता है। इस कोटिमें महात्माओं और संतोंकी परिगणना होती है। दूसरे शब्दोंमें महात्मा एवं संतका गौरव मनुष्य तभी वहन कर पाता है जब वह कामना-रहित कर्मका पोषक होता है। महात्मा या संत देवतासे भी बड़ा है; क्योंकि देवता केवल सुख-भोग-जीवनका रूप है, जब कि महात्मा या संत मानव-जातिके उद्धार-हेतु लोकसंग्रह कर्म भी करता है। निष्कामकर्मी भगवान्को कभी भी विस्मृत नहीं करता, इसलिये वह निष्कामभक्तिके माध्यमसे ज्ञानकी उच्चतम अवस्था प्राप्तकर जनकादिके समान विदेह बनकर सांसारिक जीवोंके अपने कर्मोंको प्रभु समर्पित करता है। अतः निष्काम कर्मका स्वरूप निम्नाङ्कित गुणोंके आधारपर पल्लवित, पुष्पित एवं सुवासित हो पाता है—१—वह अपरिग्रह प्रतिदान आदिकी फला-काङ्क्षासे रहित होता है। २—वह केवल परोपकारादि श्रेष्ठ कर्तव्योंके निर्वाहन-हेतु किया जानेवाला कर्म है। ३—वह अधिकारोंकी सीमासे मुक्त कर्म है। ४—वह कर्म निष्कामभक्तिसे युक्त होता है। ५—उस कर्मका परिणाम परपीड़ा कदापि नहीं है। ६—परदुःखकातरता निष्काम कर्मकी आत्मा है और परसेवा प्राण। ७-**'सत्यं शिवं सुन्दरम्'** तथा **'आत्मवत् सर्वभूतेषु'** एवं **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** की भावनासे ओतप्रोत कर्म ही निष्कामकर्म है।

सारांश, स्वार्थपरक कामनाओं एवं भावनाओंसे मुक्त कर्म ही निष्काम कर्म है और परहितकी आभा ही इसकी आत्माका रूप है, अर्थात् स्वरूप है।

गीताका कर्मयोग—१६

[श्रीमद्भगवद्गीताके तीसरे अध्यायकी विस्तृत व्याख्या]

(लेखक—श्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

(वर्ष-५३, अङ्क १२, पृष्ठ-संख्या ४९९ से आगे)

सम्बन्ध—जिसका संसारसे किसी-न-किसी प्रकारका सम्बन्ध है, उस सम्बन्ध-विच्छेदके लिये जो कर्तव्यका पालन नहीं करता, उस मनुष्यकी पूर्व श्लोकमें भर्त्सना की गयी है। किंतु जिन्हें अपने लिये संसारकी किंचिन्मात्र भी आवश्यकता नहीं है, उनपर कर्तव्यका दायित्व नहीं रहता। कर्तव्यके दायित्वसे मुक्त एवं कर्मयोगके साधनसे सिद्ध महापुरुषकी स्थितिका वर्णन अगले दो श्लोकोंमें करते हैं।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥१७॥

भावार्थ—जो मनुष्य अपने-आपमें ही रमण करनेवाला, अपने-आपमें ही तृप्त एवं अपने-आपमें ही संतुष्ट है, उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है। परमात्म-प्राप्ति हो जानेके कारण उस मनुष्यके लिये कुछ भी करना, जानना और पाना शेष नहीं रहता।

गीतामें भगवान्‌की ऐसी शैली रही है कि भिन्न-भिन्न साधनोंसे परमात्माकी ओर चलनेवाले साधकोंके भिन्न-भिन्न लक्षणोंके अनुसार ही परमात्माको प्राप्त सिद्ध महापुरुषके लक्षणोंका वर्णन करते हैं। यहाँ भी इसी शैलीका प्रयोग किया गया है। सकाम मनुष्योंको कर्मयोगका अधिकारी कहा गया है—**'कर्मयोगस्तु कामिनाम्'** (श्रीमद्भा० ११। २०। ७)। सकाम मनुष्योंकी प्रीति, तृप्ति और सन्तुष्टि संसारमें होती है। अतः कर्मयोगद्वारा सिद्ध निष्काम महापुरुषोंके लक्षणोंका वर्णन करते हुए भगवान् कहते हैं कि उनकी प्रीति, तृप्ति और सन्तुष्टि सकाम मनुष्योंकी भाँति संसारमें न होकर अपने-आप (स्वरूप)में ही होती है।

अन्वय

तु, यः, मानवः, आत्मरतिः, एव, च, आत्मतृप्तः, च, आत्मनि, एव, संतुष्टः, स्यात्, तस्य, कार्यम्, न, विद्यते ॥ १७ ॥

पद-व्याख्या

तु—परंतु।

यहाँ 'तु' पद पिछले श्लोकमें वर्णित अघायु और इन्द्रियाराम पुरुषकी अपेक्षा सब पापोंसे मुक्त और आत्माराम महापुरुषकी विलक्षणता बतलानेके लिये प्रयुक्त हुआ है।

यः मानवः आत्मरतिः एव च आत्मतृप्तः च आत्मनि एव संतुष्टः स्यात्—जो मनुष्य अपने-आपमें ही रमण करनेवाला और अपने-आपमें तृप्त एवं अपने-आपमें ही संतुष्ट है।

जबतक मनुष्य परमात्माके सम्मुख नहीं होता, तबतक वह अपनी 'रति' (प्रीति) इन्द्रियोंके भोगों एवं स्त्री, पुत्र, परिवार आदिसे 'तृप्ति' भोजन (अन्न-जल)से तथा 'संतुष्टि' धनसे मानता है। परन्तु इनमें उसकी प्रीति, तृप्ति और सन्तुष्टि न तो कभी पूर्ण ही होती है, न निरन्तर ही रहती है। कारण यह है कि संसार प्रतिक्षण परिवर्तनशील, जड और नाशवान् है और 'स्वयं' सदा एकरस रहनेवाला, चेतन और अविनाशी है। अतः 'स्वयं'की प्रीति, तृप्ति, सन्तुष्टि विजातीय संसारसे कैसे हो सकती है?

किसी भी मनुष्यकी प्रीति संसारमें सदा नहीं रहती—यह सभीका अनुभव है। विवाहके समय स्त्री और पुरुषमें परस्पर जो प्रीति या आकर्षण प्रतीत होता है, वह एक-दो सन्तान होनेके बाद नहीं रहता।

कहीं-कहीं तो स्त्रियाँ अपने वृद्ध पतिके लिये यहाँतक कह देती हैं कि 'बुड्ढा मर जाय तो अच्छा हो।' भोजन करनेसे प्राप्त तृप्ति भी कुछ ही कालके लिये प्रतीत होती है। मनुष्यको धन-प्राप्तिमें अपनी जो संतुष्टि प्रतीत होती है, वह भी क्षणिक होती है; क्योंकि धनकी लालसा सदा (उत्तरोत्तर) बढ़ती ही रहती है। तात्पर्य यही है कि संसारमें प्रीति, तृप्ति और संतुष्टि कभी स्थायी नहीं रह सकती।

मनुष्यको सांसारिक वस्तुओंमें प्रीति, तृप्ति और संतुष्टिकी केवल प्रतीतिमात्र होती है, वास्तवमें होती नहीं। अगर होती तो पुनः अरति, अतृप्ति एवं असंतुष्टि नहीं होती। स्वरूपसे प्रीति, तृप्ति और संतुष्टि स्वतः सिद्ध है। परन्तु जब जीव भूलसे—संसारसे अपना सम्बन्ध मान लेता है, तब वह प्रीति, तृप्ति और संतुष्टिको संसारमें ढूँढ़ने लगता है, और इसके लिये (तत्त्वतः स्वरूपसे निष्काम होते हुए भी सांसारिक वस्तुओंकी कामना करने लगता है। कामना करनेसे जब वह वस्तु (धनादि) मिलती है, तब मनमें स्थित कामनाके निकलनेसे (दूसरी कामनाके पैदा होनेसे पहले-पहल) निष्काम अवस्था ही होती है और उसी निष्कामताका ही सुख उसे होता है, किंतु उस सुखको मनुष्य सांसारिक वस्तुकी प्राप्तिसे उत्पन्न हुआ मान लेता है तथा इस सुखको ही प्रीति, तृप्ति और संतुष्टिके नामसे मान लेता है। परंतु सांसारिक वस्तुओंसे कभी भी पूर्ण (सदाके लिये) प्रीति, तृप्ति और संतुष्टि प्राप्त न हो सकनेके कारण (एवं संसारसे सम्बन्ध बना रहनेके कारण) वह पुनः नयी कामनाएँ करने लगता है और फिर दुःखी हो जाता है। यहाँ यह बात ध्यान देनेकी है कि साधक तो उस सुखमें मूल कारण निष्कामताको मानते हैं और दुःखोंका कारण कामनाको मानते हैं, जब कि संसारमें आसक्त मनुष्य वस्तुओंकी प्राप्तिसे सुख मानते हैं और वस्तुओंकी अप्राप्तिसे दुःख मानते हैं। यदि आसक्त मनुष्य भी साधकके समान ही वास्तविकता-से युक्त दृष्टिसे देखे तो उसे शीघ्र ही 'निष्कामता'का बोध हो सकता है और शान्तिको प्राप्त कर सकता है।

कर्मयोगके द्वारा संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाने-के कारण जिसकी कामनाएँ नष्ट हो गयी हैं, उस महापुरुषकी प्रीति, तृप्ति और संतुष्टि अपने-आपमें ही हो जाती है,[1] जो स्वरूपतः पहलेसे ही है।

वास्तवमें प्रीति-तृप्ति और संतुष्टि—तीनों अलग-अलग न होते हुए भी संसारके सम्बन्धसे अलग-अलग प्रतीत होती है। इसीलिये संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर उस महापुरुषकी प्रीति, तृप्ति और संतुष्टि—तीनों एक ही तत्त्व (स्वरूप) में हो जाती हैं।

भगवान्‌ने इस श्लोकमें दो बार तथा अगले श्लोक-में एक बार 'एव' 'च' पदोंका प्रयोग किया है। इससे यह भाव प्रकट होता है कि कर्मयोगकी प्रीति, तृप्ति और संतुष्टिमें किसी प्रकारकी कमी नहीं रहती एवं तत्त्वके अतिरिक्त अन्यकी आवश्यकता भी नहीं रहती।[2]

१—प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्। आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥
(गीता २। ५५)

'हे अर्जुन! जिस कालमें यह पुरुष मनमें स्थित सम्पूर्ण कामनाओंको भलीभाँति त्याग देता है और आत्मासे आत्मामें ही संतुष्ट रहता है, उस कालमें वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है।'

२—यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः। यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥
(गीता ६। २२)

'परमात्माकी प्राप्तिरूप जिस लाभको प्राप्त होकर उससे अधिक दूसरा कुछ भी लाभ नहीं मानता और परमात्म-प्राप्तिरूप जिस अवस्थामें स्थित योगी बड़े भारी दुःखसे भी चलायमान नहीं होता।'

तस्य कार्यम् न विद्यते—उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है। मनुष्यके लिये जो भी कर्तव्य-कर्मका विधान किया गया है, उस सबका उद्देश्य परम कल्याणस्वरूप परमात्माको ही प्राप्त करना है। किसी भी साधनके द्वारा उद्देश्य पूरा हो जानेपर मनुष्यके लिये कुछ भी करना, पाना और जानना शेष नहीं रहता अर्थात् वह कृतकृत्य, प्राप्त-प्राप्तव्य एवं ज्ञात-ज्ञातव्य हो जाता है, जो मनुष्य-जीवनका परम पुरुषार्थ है।

जीवात्मा स्वयं अपने स्वरूपसे पूर्ण होते हुए भी जबतक (संसारके सम्बन्धके कारण) अपनेमें अभाव समझकर और शरीरादिको 'मैं' तथा 'मेरा' मानकर 'अपने लिये' कर्म करता है, तबतक उसके लिये कर्तव्य शेष रहता ही है। परंतु जब वह 'अपने लिये' कुछ भी न करके 'दूसरोंके लिये' (अर्थात् शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और प्राणोंके लिये, माता, पिता, स्त्री, पुत्र, परिवारके लिये, समाजके लिये, देशके लिये, जगत्के लिये और जगत्पतिके लिये) सम्पूर्ण कर्म करता है, तब उसका (संसारसे सम्बन्धविच्छेद हो जानेके कारण) अपने लिये कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता। तात्पर्य यह है कि जिनका संसारसे सम्बन्ध है, उन्हींके लिये कर्तव्य है। संसारसे माना हुआ सम्बन्ध निष्काम-भावसे सेवा करनेसे सुगमतापूर्वक टूट जाता है।

कर्मयोगके द्वारा सिद्ध महापुरुषकी रति, तृप्ति और संतुष्टि जब अपने-आपमें ही हो जाती है, तब वह कृतकृत्य, प्राप्त-प्राप्तव्य और ज्ञात-ज्ञातव्य हो जानेसे विधि-निषेधसे ऊँचा उठ जाता है। यद्यपि उसपर शास्त्र-का शासन नहीं रहता, फिर भी उसकी समस्त क्रियाएँ स्वाभाविक ही शास्त्रानुकूल आदर्श बन जाती हैं।

यहाँ '**तस्य कार्यम् न विद्यते**' पदोंका अभिप्राय यह नहीं है कि उस महापुरुषसे कोई क्रिया नहीं होती। कुछ भी करना शेष न रहनेपर भी उस महापुरुषके द्वारा लोकसंग्रहके लिये क्रियाएँ स्वतः होती हैं। (जिसका वर्णन आगे इसी अध्यायके बीसवें श्लोकसे उन्तीसवें श्लोकतक हुआ है) जैसे पलकोंका गिरना-उठना, श्वासोंका आना-जाना, भोजनका पचना आदि क्रियाएँ स्वतः (प्रकृतिमें) होती रहती हैं, वैसे ही उस महापुरुषकी सभी शास्त्रानुकूल आदर्शरूप क्रियाएँ भी (कर्तृत्वाभिमान न होनेके कारण) स्वतः होती हैं ॥ १७ ॥ (क्रमशः)

गीताके कर्मयोग और निष्काम कर्मोंका वास्तविक रहस्य क्या है ?

(२)

(लेखक—डॉ० श्रीशुकरत्नजी उपाध्याय, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, शिक्षा-शास्त्री, तीर्थद्वय, रत्नद्वय)

(गताङ्क पृष्ठ-सं० १२१से आगे)

कोई भी सिद्धान्त कर्मका विरोधी नहीं है

कोई भी सिद्धान्त कर्मका विरोधी नहीं है। केवल दृष्टिकोणका भेद है। वेदान्तका कथन है कि आत्मा तो असङ्ग, अविनाशी और अद्वितीय है। देह सत्कर्ममें लगे तो भी कोई हानि नहीं है। श्रीशंकराचार्य स्वयं यावज्जीवन क्रियारत रहे। ज्ञानप्राप्तिके लिये साधकावस्थामें कर्मकी उपयोगिता है, इसमें किसीका विवाद नहीं है। भोगसुखके द्वारा स्वयं ही तृप्तिके साधनमें अग्रसर होकर, धक्के-पर-धक्के खाकर मनुष्य अपने जीवनमें प्रतिदिन किसी प्रकार शनैः-शनैः अनित्य सुखके विषयमें वीतराग हो उठता है। फिर वह त्याग करना सीखता है, इससे क्रमशः चित्त शुद्ध होकर ज्ञान स्वयं उपस्थित होता है। जैसे पानीकी सहायतासे तैरना सीखा जा सकता है, वैसे ही प्रवृत्तिमें रहकर उसकी सहायता-से निवृत्ति सीखी जाती है। आचार्य श्रीशंकरका कथन है कि जीवका बन्धन अविद्यासे है। मुक्तिके

लिये केवल ज्ञान ही समर्थ और पर्याप्त है। जैसे किसीको भोजन बनाना है तो ज्ञान और कर्म दोनोंकी आवश्यकता होती है, केवल ज्ञानसे भोजन नहीं बन सकता। वैसे ही मुक्ति यदि कोई बनानेकी वस्तु होती तो उसके लिये ज्ञानके साथ-साथ कर्म भी आवश्यक होता, किंतु मुक्ति तो केवल अज्ञानके परदेका उठना है, अतः उसके लिये केवल ज्ञान ही पर्याप्त है। लोक-संग्रहके लिये कर्म भगवत्पाद श्रीशंकरको भी मान्य है; किंतु उसे वे कर्म ही नहीं कहते। जिसको करनेवाला अपनेको 'कर्ता' ही नहीं समझता, वह कर्म शब्दका विषय नहीं है। यह है—श्रीशंकराचार्यकी कर्म-परिभाषा— **'लोकसंग्रहार्थं प्रवृत्तस्य यत् प्रवृत्तिरूपं दृश्यते, न तत् कर्म'**। एक बाह्यदृष्टिसे बोलता है और ज्ञानीकी क्रियाशीलताको कर्म नाम देता है, दूसरा तत्त्वदृष्टिसे देखता है और उसीको अकर्म संज्ञा देता है, यह केवल शब्दभेद है।

तिलक आग्रह करते हैं कि 'ज्ञानीको भी कर्म करना चाहिये।' शंकराचार्य यह बात ज्ञानीकी निज प्रेरणापर छोड़ देते हैं। अतः सामान्य साधकको साधकोचित निष्काम सेवा-कार्यमें लगे रहनेके लिये सदा उद्यत रहना चाहिये। कभी-कभी कर्माधीन होकर मनुष्य इतना लिप्त हो जाता है कि विश्राम या मुक्तिकी भावना उसकी दृष्टिसे अदृश्य हो जाती है। यही बड़ी विपत्ति और शोचनीय स्थिति है। हर स्थितिमें संतुलन अपेक्षित है। कर्मोंकी कुशलतासे वस्तुकी सौन्दर्य-रचनाके साथ-साथ कर्ताके हृदयका सौन्दर्य भी सुरक्षित रहना चाहिये। कर्म भी ब्रह्म है, अतः जो भी कर्म किया जाय, उसमें कर्ताकी संतुष्टि, उद्देश्यकी पवित्रता, कर्ममें एकाग्रता और कर्मकी सुचारुताका होना आवश्यक है।

जब कर्मके बिना कोई साँस भी नहीं ले सकता तो दसों दिशाओंमें चलनेके लिये केवल कर्मका ही मार्ग रह जाता है। गीता समस्त विषयोंका केन्द्रबिन्दु कर्म ही मानती है। ज्ञानोत्तरकालमें भी लोक-संग्रहार्थ कर्मका आग्रह है। निश्चित ही कर्मसे मानव-जीवन भी समृद्ध और सम्पन्न होता है तथा भौतिक उन्नतिके साथ आत्मोन्नतिके भी चरम शिखरपर पहुँच जाता है। कर्मके बिना समाजका घूमता हुआ चक्र एक क्षण भी नहीं चल सकता। मूर्ख और ज्ञानी दोनोंको ही कर्म करने पड़ते हैं। तब फिर जीवनकी चरम सिद्धि और समृद्धिके लिये मन, प्राण और शरीरकी सम्पूर्ण शक्तिको कर्ममें क्यों नहीं उँड़ेल देना चाहिये ? कर्मको ही प्रभु-सेवा समझकर (Work is Devine Service) हम जीवनमें अनन्त सामर्थ्य और अनन्त सौख्य क्यों न प्राप्त करें ?

कर्म-बन्धनसे मुक्ति

कर्म जीवनकी प्रमुख शक्ति है, अतः गीता कर्मका प्रतिपादन करती है। कर्मके सम्बन्धमें तलस्पर्शी विश्लेषण, मौलिक आधार एवं तर्क-संगत विचार जितने गीतामें उपस्थित हैं, उतने अन्यत्र दुर्लभ हैं। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि कर्ममें तो लोग दिन-रात लगे ही रहते हैं, फिर नयी बात आप क्या चाहते हैं ? इसके उत्तरमें कहा गया है कि केवल कर्म करना ही पर्याप्त नहीं है, उसमें आसक्तिका न होना भी वाञ्छनीय है, सच्चा और श्रेष्ठ कर्म वह है, जो फलकी भावनाके बिना किया जाय। कर्म तो हो जाय, किंतु कर्मसे उत्पन्न होनेवाला 'बन्धन' पैदा न हो। साँप भी मर जाय और लाठी भी न टूटे। कर्म नहीं, कर्मफलकी आशा छोड़ना गीताके रहस्यमय संदेशका बीज-मन्त्र है। इसीका नाम कर्मयोग तथा निष्कामकर्म है। बुद्धिको सदा जाग्रत् रखकर विचारपूर्वक कर्म करना और धीरे-धीरे अपनेको प्रकृतिके बन्धनसे छुड़ा लेना ही बुद्धिमत्ता है।

यज्ञमें विभिन्न द्रव्योंसे युक्त आहुतियोंका त्याग किया जाता है। कर्मरूपी यज्ञमें कर्मके फलका त्याग ही उसे पूर्ण करता है। इसका अर्थ यह नहीं कि जब कर्मका फल मिलने लगे तो उसको न लेनेका आग्रह बना रहे। फलकी आसक्तिका त्याग ही कर्मका यज्ञात्मकरूप है तथा समाज और विश्वके एक अङ्गके रूपमें जीवित रहना ही यज्ञ है। तिलकके मतसे यही गीताके अमृत-दूधका मथा हुआ मक्खन है। इस मध्य-विन्दुके चारों ओर ही गीताकी सारी सजावट की गयी है। भक्ति, ज्ञान इत्यादि उसके आस-पास तारा-मण्डलकी भाँति सज गये हैं। गीताका कर्मयोग भक्ति और ज्ञानके संबलसे सम्पुष्ट है।

निष्कामकर्म

'सांख्य-मार्ग' तथा 'योग-मार्ग'—दोनोंका उद्देश्य एक है। दोनों कर्मके बन्धनमें नहीं पड़ना चाहते; परंतु 'सांख्यमार्ग' कर्मके बन्धनको छोड़नेके लिये कर्मको ही छोड़ बैठता है और 'योगमार्ग' जीवनके प्रति अर्थ-क्रियात्मक दृष्टिकोणको लेकर कहता है कि कर्म मत छोड़ो, कर्म-फलकी जिस आशासे दुःख और बन्धन होता है, उस आशाको छोड़ दो। इस आशाको छोड़नेका परिणाम यह होगा कि कर्ममें सिद्धि हो, असिद्धि हो, सफलता हो, असफलता हो, मनुष्यमें समता रहेगी और समता रहेगी तो शान्ति रहेगी; दुःख नहीं होगा। इसका दूसरा नाम कुशलतापूर्वक कर्म करना है। इससे कर्ममें शिथिलताका भाव नहीं आना चाहिये; क्योंकि कर्ममें शिथिलता आ जानेपर तो वह भी 'सांख्यमार्ग' ही हो जायगा। काम तो मनुष्य दुगुने उत्साहसे करे, परंतु काम करता हुआ ऐसे रहे, मानो कुछ किया ही नहीं—यही निष्कामकर्म है। कर्म करके फलको अपने ऊपर नहीं, उसके ऊपर (ईश्वरके ऊपर) छोड़ देना है—इसीका दूसरा नाम 'समर्पणभाव' है।

मुख्य समस्या क्या है?

मुख्य समस्या कर्म छोड़नेकी या न छोड़नेकी नहीं है, कर्म करनेमें कुशलता प्राप्त करनेकी है। एक कर्म-फलके जालमें उलझ जाता है और दूसरा उससे मुक्त रहता है। समस्या इन्द्रियोंकी बाहरी रोकथामकी भी नहीं है, समस्या तो मनके सुधारकी है। कर्मेन्द्रियोंको बाहरसे रोकनेका प्रयत्न तो किया और मनसे विषयोंको टटोलते रहे, यह कैसा ज्ञान? यह तो स्पष्ट मिथ्याचार है। यह जीवनकी सम्पूर्ण गरिमाको धुँआ बनाकर उड़ा देता है। गीता (३। ६)ने इसे इन शब्दोंमें कहा है—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥

कर्मयोगी कैसा होता है?

संन्यासका तात्पर्य भी कर्मको सर्वात्मना परित्याग करनेसे नहीं है, अपितु कर्मके पीछे विद्यमान मानसिक ढाँचेको बदल देनेसे है। इस कर्मयज्ञके सम्यक् आचरण-से ही परमात्मा मिलते हैं और इसीसे संसार बनता है। स्वकर्मसे निकल भागनेके प्रयासमें जीवनकी गतिशील एकता टूट जायगी और असत्य उत्पन्न होने लगेगा। फल सदा भविष्यमें है और कर्म सदा वर्तमान है। इसलिये हम कर्म करें और फल प्रभुपर छोड़ दें—यही बुद्धिमानीका सिद्ध सूत्र है; क्योंकि जब चित्त फलके लिये बँटा होता है, तब फलकी आकाङ्क्षामें ही इतनी शक्ति लग जाती है कि कर्म करनेकी योग्यता नहीं बचती। फलकी चाहमें ही मन इतना उलझ जाता है या रससे भर जाता है, जिसमें कर्म करनेका पूरा रस ही समाप्त हो जाता है। कर्मके लिये जिस मात्रामें फलकी आकाङ्क्षा अधिक है, फल उतना ही अनिश्चित है। इसलिये कर्मयोगीके लिये कर्म ही सब कुछ है, फल तो परमात्माका प्रसाद है। इसीका नाम निष्कामता है। यही वह कर्मयोग है, जो मनुष्यको कर्मबन्धनसे

छुड़ाता है और परमेश्वररूपी परमपदतक पहुँचनेका सरल मार्ग स्वयं हो जाता है।

फलासक्ति-त्यागका तात्पर्य

कर्म और उसके फलके बीचकी आसक्तिको त्याग देनेका अर्थ यह नहीं है कि कर्मको बिना किसी योजनाके या ऐसे ढंगसे किया जाय, जिसका उसके हेतुसे कोई सम्बन्ध न हो। इसका अर्थ वास्तवमें यह है कि हाथमें लिये हुए कामको करते समय उसे सम्पूर्ण-रूपमें करनेके लिये जीवनकी समस्त शक्तियोंको एकाग्र कर लिया जाय। (क्रमशः)



कर्म

(लेखक—श्रीमावलीप्रसादजी श्रीवास्तव)

शास्त्रोंमें भारतवर्षको 'कर्मभूमि' कहा गया है। भारतसे यहाँ तात्पर्य बृहत्तर भारतसे है। यहाँ 'कर्म' भी व्यापक अर्थमें गृहीत है। मन, बुद्धि और वाणीसे भी जो क्रिया की जाती है, वह सब कर्ममें ही परिगणित होता है। राजर्षि भर्तृहरिके अनुसार फल और विधाता सभी कर्मके अधीन हैं, अतः वह कर्म ही नमस्कार्य है[1]। प्रस्तुत लेखमें मुख्यतः तुलसीकृतरामायणके आधारपर थोड़ा-सा 'कर्म' पर विचार किया जायगा।

जनसाधारणमें 'कर्म' शब्दका प्रयोग काम-काज एवं भाग्यके अर्थमें भी है। रामायणमें भी इस शब्दका प्रयोग इन अर्थोंमें[2] हुआ है। नित्यके व्यवहारमें भी 'कर्मरेख' शब्दका अर्थ 'प्रारब्धकी रेखाएँ', 'भाग्यमें लिखी वस्तु' एवं 'कर्महीन'का अर्थ 'भाग्यहीन' समझा जाता है। त्रिकालज्ञ ऋषि-मुनियोंद्वारा रचित शास्त्र पूर्वजन्म और पुनर्जन्मके सिद्धान्तको मानते हैं। उनका मत है कि कर्मके साथ उसका अच्छा-बुरा फल अनिवार्यरूपसे जुड़ा हुआ है। गोस्वामीजीने इन गहन सिद्धान्तोंको दो-ही-तीन सरल वाक्योंमें समझानेका प्रयत्न किया है—

कर्म प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फल चाखा॥
(अयोध्याकाण्ड)

और—

काहु न कोउ सुख दुख कर दाता। निजकृत कर्म भोग सब भ्राता॥

तथा—

सुभ अरु असुभ कर्म अनुहारी। ईस देइ फल हृदय बिचारी॥
करइ जो कर्म पाव फल सोई। निगम नीति अस कह सब कोई॥

सारांश यह है कि 'करना' (कर्म)के साथ 'भोगना' (फलभोग या कर्मविपाक) भी उसी तरह अनिवार्यरूपसे लगा हुआ है, जैसे वृक्षके साथ छाया, जन्मके साथ मृत्यु और सूर्यके साथ गर्मी। भाग्य हमारे कर्मका ही एक अङ्ग है।[3] यही कारण है कि जहाँ व्युत्पत्ति शास्त्रीय दृष्टिसे 'कर्म'का अर्थ पूर्णतया निश्चित है, वहाँ दर्शनशास्त्रकी दृष्टिसे इसका अर्थ व्यवहारमें प्रसङ्गानुसार कहीं-कहीं भाग्य या प्रारब्ध भी लिया जाता है।

---

१. फलं कर्मायत्तं किममरगणैः किं च विधिना, नमस्तत्कर्मभ्यो विधिरपि न येभ्यः प्रभवति॥ (नीतिशतक ९२)

२. कर्म प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फल चाखा॥ (रा० च० मा० २)
जल भरि नयन कहत रघुराई। तात करम निज तें गति पाई॥ (रा० च० मा० ३)
—आदि चौपाइयोंमें 'कर्म'का अर्थ करनी, काम-काज, व्यापार, हलचल आदि ही दिखलायी पड़ता है। साथ ही नीचे लिखी चौपाइयोंमें 'कर्म'का अर्थ 'भाग्य' निकलता है—
करम लिखा जौं बाउर नाहू। तौ कत दोष लगाइअ काहू॥ (रा० च० मा० १)

३. वनगमन-प्रसङ्गमें श्रीराम लक्ष्मणजीसे कहते हैं—
सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता परो ददातीति कुबुद्धिरेषा।
अहं करोमीति वृथाभिमानः स्वकर्मसूत्रग्रथितो हि लोकः॥ (अध्यात्मरामायण)

मानवीय कर्म मूलतः दो प्रकारके होते हैं—(१) उचित कर्म, पुण्यकर्म, कर्तव्य कर्म, शुभ कर्म अथवा धर्म और (२) अनुचित कर्म, पापकर्म त्याज्य कर्म, अशुभ कर्म अथवा अधर्म । मनुष्य समस्त कर्म-सुखकी प्राप्ति दुःखकी निवृत्ति, शान्ति और आत्मोद्धारके लिये करता है; कष्ट पाने, पछताने और अपना अहित करनेके लिये नहीं । जिस कर्मका अन्तिम और निश्चित परिणाम अटल सुख, स्थायी शान्ति और आत्माका आनन्द हो वह उचित कर्म है, जिसका निश्चित फल खेद, पश्चात्ताप, अनिवार्य दुःख और यन्त्रणा हो वह अनुचित कर्म है । हमारे कर्मोंका फल तीन स्रोतोंसे मिलता है—समाजके द्वारा, राजशासनके द्वारा और परमात्माके अटल नियमोंके द्वारा । समाज और राजाकी तो भूल भी हो सकती है, परंतु कभी न भूलनेवाले हमारे अच्छे-बुरे कर्मोंके साक्षी—(१) सूर्य, (२) चन्द्र, (३) यमदेव, (४) काल और पञ्च महाभूत अर्थात्—१ पृथ्वी, २—जल, ३—अग्नि, ४—वायु और ५—आकाश ये नौ प्रत्यक्षदर्शी कभी भूल नहीं करते । हिन्दू धर्मशास्त्रोंकी आज्ञा है कि कोई भी कर्म करते समय मनुष्य इन नौ कर्म-साक्षियोंको स्मरण रखे ।

कौनसे कर्म उचित और विहित हैं और कौन-कौनसे अनुचित तथा त्याज्य हैं, इसके लिये भी शास्त्र ही प्रमाण हैं । धर्म और अधर्मका निर्णय सच्चे महात्मा भी कर सकते हैं । सन्मार्गमें जानेसे उत्तम परिणाम अवश्य होता है और कुमार्गमें चलनेसे बुरा परिणाम हुए बिना नहीं रहता—'नहिं बिषबेलि अमिअ फल फरहीं ।' बुरे कामोंमें हाथ डालनेसे दण्ड तो जब मिलना होगा तभी मिलेगा, परंतु तेज, बल और बुद्धिका ह्रास तो उसी समय हो जाता है । सीता-हरणके समय यति-वेषधारी रावणकी दशा देखिये—

जाकें डर सुर असुर डेराहीं । निसि न नींद दिन अन्न न खाहीं ॥
सो दससीसु स्वान की नाईं । इत उत चितइ चला भड़िहाईं ॥
इमि कुपंथ पग देत खगेसा । रह न तेज बल बुधि लव लेसा ॥

(अरण्यकाण्ड)

बात यह नहीं कि केवल जान-बूझकर दुराचरण करनेसे ही बुरा परिणाम भोगना पड़ता है; अनजानमें भी अधर्म करनेसे बुरा फल भोगना पड़ता है । जो दुर्बुद्धि पुरुष अज्ञानसे विष पीकर उसे नहीं जानता, वह उसके परिणामके अन्तमें कर्मके फलको जानता है[४] । तात्पर्य यह है कि कभी-कभी हमें ऐसे दण्ड भी भोगने पड़ते हैं, जिनके कारणोंका हमें पता ही नहीं लगता । कुछ दुःख हमें ऐसे भी मिलते हैं, जो हमारे अनजानमें किये गये दुष्कर्मोंके परिणाम होते हैं । फिर यदि जान-बूझकर सावधानीसे असत्कर्म किया जाय तो उसका कहना ही क्या ? कर्मका अच्छा और बुरा फल मनुष्यकी छायाकी तरह उसके पीछे-पीछे उसी तरह लगा रहता है, जैसे गौके पीछे उसका बछड़ा । हजारों गौओंके झुंडमें जैसे बछड़ा अपनी माताका ठीक-ठीक पता लगा लेता है, उसी तरह पहलेका किया हुआ कर्म भी अपने कर्ताको ठीक-ठीक ढूँढ़ लेता है[५] । यही तो कर्मका फल अथवा बन्धन है । कर्मके बन्धनसे (अच्छे-बुरे फलके भोगसे) छुटकारा कैसे मिले, इसी छोटेसे परंतु बड़े टेढ़े प्रश्नका उत्तर देनेके लिये गीतामें कर्तृत्व-शून्य भावका उपदेश दिया गया है । गीताके मतसे प्रकृति ही कर्मकी कारयित्री है । कबीरदासजी भी कहते हैं—

४—यो हि मोहाद् विषं पीत्वा नावगच्छति दुर्मतिः । स तस्य परिणामान्ते जानीते कर्मणः फलम् ॥

(वाल्मीकिरामायण, उत्तरकाण्ड)

५—यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम् । तथा पूर्वकृतं कर्म कर्तारमनुगच्छति ॥

(गरुडपुराण २ । ३४)

जो कछु किया सो हरि किया, मैं कछु किया नाहिं ।
जो कहुँ कहौ कि मैं किया, तुम ही थे मोहि माहिं ॥

गीता और रामायणके अनुसार कर्मकी गति गहन, कुटिल और अटल है । अवश्य ही भावी बड़ी प्रबल होती है—होनी होकर ही रहती है । इसमें संदेह नहीं कि कालचक्रके फेरमें प्रतापी महापुरुष भी कर्मकी गहन गतिकी बलवान् चक्कीमें पिस जाते हैं । राजा दशरथके चार अवतारी पुत्र थे, परंतु उनकी मृत्युके समय एक भी उपस्थित न थे !!! यही तो प्रारब्धकी कठिन गति थी ।

प्रश्न होता है कि जब होनहार अटल है, तब इस दुःखी और संतप्त संसारके लिये कहीं आशा, उत्साह, शान्ति और आनन्दका भी स्थान है अथवा नहीं ? दूषित प्रारब्ध सुधारा जा सकता है और होनहार टाला जा सकता है या नहीं ? मानसके अनुसार उत्तम शिक्षा, सदुद्योग, सत्सङ्ग और 'अति बिचित्र भगवंत गति'का महत्त्व कभी भुलाया नहीं जा सकता । जिस तरह अभ्यासद्वारा मनुष्यके दुर्दमनीय स्वभावमें भी परिवर्तन किया जा सकता है, उसी तरह नीचे बतलाये हुए विशेष उपायोंसे कर्मकी गहन और कुटिल गतिमें भी परिवर्तन किया जा सकता है—

सामर्थ्यवान्, तेजस्वी और पुरुषार्थी जीव कर्मकी रेखमें मेख मार सकते हैं । किस तरह ? साधना, तपस्या, सत्सङ्ग और शरणागतिसे । अल्पज्ञ और संसारमें लिप्त जीवको पहले तो यह ज्ञात ही नहीं रहता कि भावी अथवा होनहार क्या है । और यदि कुछ क्षणोंके पहले ज्ञात हो भी जाय तो साधनाभाव और समयाभावके कारण कोई अचूक उपाय नहीं हो सकता । घरमें आग लग जानेपर कुँआ खोदनेका प्रयास करना किस कामका ? चैतन्यता, सतर्कता और सावधानी तो समय रहते—आरम्भही से होनी चाहिये—

साधन धाम मोच्छ कर द्वारा । पाइ न जो परलोक सँवारा ॥
सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोष लगाइ ॥
(उत्तरकाण्ड)

इसलिये यह विचारकर समय रहते कुँआ तैयार कर लेना चाहिये कि यदि घरमें आग न लगेगी तो हमारी और पास-पड़ोसवालोंकी प्यास बुझेगी । प्रारब्धवादका अर्थ पुरुषार्थत्याग, कायरोंका आलस्य और अकर्मण्यता कदापि नहीं है । प्रारब्ध और होनहारको परमात्माने बनाया है—परमात्माको होनहारने नहीं बनाया । यदि

६—भावीकी प्रबलता और मनुष्यकी अल्पशक्तिके कुछ प्रमाण—

तुलसी जस भवतब्यता तैसी मिलइ सहाइ । आपु न आवइ ताहि पहिं ताहि तहाँ लै जाइ ॥ (बालकाण्ड)

पार्वती अपनी मातासे कहती हैं—

तुम्ह सन मिटहिं कि बिधिके अंका । मातु ब्यर्थ जनि लेहु कलंका ॥ (बालकाण्ड)

व्यासजी भी कहते हैं—

यदपि जन्म बभूव पयोनिधौ निवसनं जगतीपतिमस्तके । तदपि नाथ पुराकृतकर्मणा पतति राहुमुखे खलु चन्द्रमाः ॥

७—(क) सर्वसिद्धिदायक मन्त्र—

मंत्र महामनि बिषय ब्याल के । मेटत कठिन कुअंक भाल के ॥ (बालकाण्ड)

और— नहिं कलि कर्म न भगति बिबेकू । रामनाम अवलंबनु एकू ॥ (बालकाण्ड)

(ख) तपस्या और साधनाका वीरमार्ग—जौं तप करइ कुमारि तुम्हारी । भाविउ मेटि सकहिं त्रिपुरारी ॥ (बालकाण्ड)

(ग) साधुसेवन और सत्सङ्गका प्रताप—

मज्जन फल पेखिअ ततकाला । काक होहिं पिक बकउ मराला ॥ सठ सुधरहिं सतसंगति पाई । पारस परस कुधात सुहाई ॥
(बालकाण्ड)

जीव अपनी साधना, तपस्या, सत्संग और शरणागति से होनहारके निर्माता ईश्वरकी कृपा प्राप्त करनेमें तत्पर रहे —अपने प्राणोंतककी बाजी लगा दे, तो विश्वास रखिये, होनहार रुक जायगा। रामकी कृपासे सारे लौकिक और पारलौकिक विधान बदल जाते हैं। उसकी कृपाके आश्चर्यजनक परिणाम देखिये—

गरल सुधा रिपु करइ मिताई। गोपद सिंधु अनल सितलाई॥
गरुअ सुमेरु रेनुसम ताही। रामु कृपा करि चितवा जाही॥
(सुन्दरकाण्ड)

वर्तमान कालके क्रियमाण कर्मोंमें हम सतर्क और पापभीरु कहकर सदाचारी बननेका अभ्यास करें तो हमारा अनारब्ध संचित उतना क्लेशकारक नहीं हो सकता। अथवा सम्भव है कि हम उसके भोगसे सर्वथा मुक्त हो जायँ। साहूकारसे मुद्दल रकमकी तीन चौथाई छूट माँगनेका नैतिक अधिकार ऋणीको बिल्कुल नहीं है, परंतु यदि साहूकारको किसी तरह प्रसन्न कर लिया जाय तो वह हमारा सारा ऋणभार हटा सकता है। साथ ही हमें कुछ और सहायता भी दे सकता है। संसार परमात्माके नियमोंमें बँधा हुआ है, परमात्माके नियमोंसे सर्वथा अतीत हैं—होनहारकी प्रबलताका कानून सृष्टिके लिये लागू है, स्रष्टाके लिये नहीं। जो क्षुद्र जीव स्रष्टाको अपना रक्षक बना लेता है, वह स्वयं महान् बन जाता है—उस विजयी जीवके लिये सारे मानवीय नियम ढीले पड़ जाते हैं। तात्पर्य यह कि हमारे वर्तमान कर्मोंमें परमात्माका अधिष्ठान हो तो हमारा भविष्य अवश्य सुधर सकता है और होनहार भी रुक सकता है।

स्मरण रखना चाहिये कि कर्मका अर्थ सत्कर्म —सदाचारके पंथ अथवा सन्मार्ग है—दुष्कर्म और दुराचारका मार्ग नहीं। इस मार्गकी आवश्यकता इसलिये है कि अखिल सृष्टि ही कर्ममय है, कर्ममें भगवान्का निवास है, सृष्टिक्रम और समाजमर्यादाकी रक्षा तथा आदर्श और व्यवस्थाकी स्थापनाके लिये सारे कर्तव्य-बन्धनोंसे परे परमात्मा भी स्वयं बार-बार अवतार लेते हैं अथवा अपनी विभूतियोंको हम मूर्खोंके बीच समय-समयपर भेजते हैं। तथापि कर्ममें भी बुद्धि और ज्ञानकी आवश्यकता है। ज्ञानके साथ समन्वय हुए बिना ठूँठे कर्मका रूप दम्भ, पाखण्ड, आडंबर, मिथ्याचार और अत्याचार हो जाता है। ज्ञान न रहनेपर हम यह कैसे समझेंगे कि सत्कर्म और दुष्कर्म कभी-न-कभी समय पाकर तो फैलते ही हैं, परंतु अनेक बार तुरंत नहीं फलते और ज्ञानके अभावमें यही ज्ञात न होगा कि अमुक सत्पुरुष वर्षोंसे लगातार दुःख क्यों पा रहा है और अमुक दुष्ट पुरुष वर्षोंसे सुखी क्यों है। ज्ञानके बिना हम कर्म, अकर्म और विकर्मकी बारीकियोंको कैसे जानेंगे। अपनी विपत्तिको भी परमात्माकी कृपा क्यों कर मानेंगे और अपने पुराकृत दूषित कर्मका संचित फल धीरज और शान्तिके साथ कैसे भोगेंगे और ज्ञानके अभावमें दुःख तथा सुख दोनोंके लिये समबुद्धि कैसे उत्पन्न होगी।

जबतक हमारे नित्य-नैमित्तिक कर्मोंमें ज्ञानका अंश न रहेगा, तबतक हम सात्त्विक भोजन, उच्च विचार, दैनिक सदाचार, संयम आदिका महत्त्व कैसे समझ सकेंगे और अपने नीच संस्कार, लज्जाजनक वासना तथा बुरे स्वभावको बदल देनेका अभ्यास ही क्यों करेंगे। जब कभी हम एक छोटा-सा सत्कर्म करेंगे तो उच्च ज्ञानके बिना तुरंत एक बड़ा-सा ढोल भी पीटने लगेंगे!!! अन्तःकरणकी शुद्धि और भोगमें योग ज्ञानके बिना नहीं हो सकता। निष्कर्ष यह है कि जिस कर्ममें अन्तरात्माकी सलाह न हो, वह शुभकर्म नहीं—पशुधर्म है। सिद्धि और सफलताका उद्गमस्थान जीवकी वासना, अभिमान और संकल्प-विकल्प नहीं, उस जगन्नियन्ताकी कृपापूर्ण दृष्टि है। वस्तुतः कर्ममार्गका शुद्धरूप केवल वहाँ दिखलायी पड़ता है, जहाँ कर्ताके हृदयमें आस्तिकताका संयोग और बुद्धिमें निर्मल ज्ञानका मेल हो।

कर्मयोग-रहस्य

(लेखक—आचार्य श्रीविष्णुदेवजी उपाध्याय, नव्यव्याकरणाचार्य)

[गताङ्क पृष्ठ-संख्या ६० से आगे]

सुख-दुःखसे अतीत जीवात्माके सुख-दुःखका कारण फलासक्ति और उसकी जड़ अहंकार है। जबतक मनुष्यमें अहंकार है, इस संसारके प्रति, अपने कर्मोंके फलके प्रति आसक्तिका त्याग करना बहुत कठिन है। फलकी आकाङ्क्षा मनुष्यको अपने इस अहंभावके कारण ही होती है। हम समझते हैं और समझते ही नहीं, थोड़ा-बहुत कुछ भी करनेपर सबसे कहते भी फिरते हैं कि 'मैंने यह किया, वह किया। मैं ऐसा न करता तो वैसा कभी न होता।' यह अहंभाव ही हमको उत्तेजना दिलाता है। 'वाह! जब तुमने वैसा किया है, तब तुमको उसका फल क्यों न मिले?' उत्तेजना ज्यों ही प्रभाव जमाती है, त्यों ही मनुष्य फलाकाङ्क्षाके लिये अत्यन्त आतुर (उत्सुक) हो उठता है। इसलिये मनुष्यकी प्रगतिमें मूलतः बाधक उसका सबसे बड़ा शत्रु एकमात्र अहंकार ही है। मनुष्यको सर्वप्रथम इससे ही बचना होगा—सर्वप्रथम इसका अस्तित्व समाप्त करना होगा। यदि वह ऐसा करनेमें सफल हो गया तो उसमें फलाकाङ्क्षा भी नहीं रहेगी और वह पूर्णत्वकी ओर प्रगति करनेमें सफल हो जायगा।

इसपर भी आसक्तिका सम्पूर्णरूपसे त्याग करनेमें मनुष्य तभी सफल हो सकता है, जब वह सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी अनन्यशरणको प्राप्त हो[४५]। यह बहुत जरूरी है कि हम जो कुछ कर्म करते हैं, जो कुछ खाते-पीते हैं, जो कुछ यज्ञ-हवन करते हैं, जो कुछ दान देते हैं और जो कुछ तपस्या करते हैं, सब कुछ ईश्वरार्पण कर दें[४६]। ऐसा होते ही मनुष्य शुभाशुभ-फलरूप कर्मबन्धनसे मुक्त हो जायगा[४७]। ईश्वरीय वाणी 'भगवद्गीता'में कहा भी गया है कि 'अभ्याससे ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञानसे मुझ परमेश्वरका ध्यान श्रेष्ठ है, ध्यानसे भी कर्मफलका त्याग विशेष है; क्योंकि इससे तत्क्षण शान्ति प्राप्त होती है[४८]।

उपर्युक्त विधिसे मनुष्यको शास्त्रोक्त—स्व-स्वधर्मोंके अनुसार ही[४९] कर्म करना होगा। वर्णित है—'भली भाँति पालन किये गये दूसरेके धर्मसे अपना गुण-रहित धर्म श्रेष्ठ है[५०]। इसका पालन करते हुए यदि मृत्यु भी हो जाय, तो वह भी श्रेयस्कर है, परंतु दूसरेका धर्म भयावह है[५१]।' फिर 'स्वभावके अनुसार नियत कर्म करनेसे मनुष्यको पाप भी नहीं लगता[५२]।' श्रीशंकराचार्य उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—'जैसे विषमें उत्पन्न हुए कीड़ेके लिये विष दोषकारक नहीं होता, वैसे ही मनुष्य स्वभावके अनुसार नियत किये हुए कर्मोंको करता हुआ भी पापको प्राप्त नहीं होता[५३]।' क्योंकि मनुष्यके कर्तव्य उसके कर्मफलोंके अनुसार निर्दिष्ट होते हैं। अतः मनुष्य परमेश्वरको स्वकर्तव्यकर्मके द्वारा पूजकर परमसिद्धिको प्राप्त होता है[५४]। यदि वह परमसिद्धि प्राप्त करनेका साधन किसी दूसरेके धर्ममें अनधिकार हस्तक्षेपको मानता है, तो वह अपना अनिष्ट तो चाहता ही है, साथ-ही-साथ समाजमें एक अव्यवस्थाका वातावरण भी उत्पन्न कर देता है। इस सम्बन्धमें सर्वपल्ली राधाकृष्णन्‌महोदय लिखते हैं—'हममेंसे प्रत्येकको अपने स्तरपर अपनी

४५—गीता १८। ६२; ४६—गीता ९। २७; ४७—गीता ९। २८; ४८—गीता १२। १२; ४९—गीता २। ३१; ५०—गीता १८। ४७, ३। ३५; ५१—गीता ३। ३५; ५२—गीता १८। ४७; ५३—यथा विषजातस्य इव कृमेः विषं न दोषकरं तथा स्वभावनियतं कर्म कुर्वन् नाप्नोति किल्बिषं पापम्॥ (गीता—१८। ४७ पर शांकरभाष्य) ५४—गीता १८। ४६; १८। ४५, १२। १०,

अनुभूतियों और मनोवेगोंके प्रति निष्ठावान् होना चाहिये। अपने स्वभावके स्तरसे ऊपरका कर्म करनेकी चेष्टा खतरनाक है। हमें अपने स्वभावकी शक्तिके अंदर रहते हुए अपने कर्तव्यका पूर्णतया पालन करना चाहिये[५५]।' मनको उन कामोंमें लगानेका, जो मनुष्यके स्वभावसे मेल नहीं खाते, कोई लाभ नहीं। कर्म वही करना चाहिये जो उसका शास्त्रोक्त धर्म है। स्वकर्तव्यकर्म किसी भी अवस्थामें नहीं त्यागना चाहिये। उसको दोष-युक्त अनुभव करनेपर भी नहीं; क्योंकि कोई भी कर्म दोषरहित नहीं है। 'दूरके ढोल सुहावने' होनेके कारण ऐसा अनुभव भले न हो, वस्तुतः धूमसे आवृत अग्निके समान सब कर्म थोड़े-बहुत किसी-न-किसी दोषसे अवश्य आच्छन्न रहते हैं[५६] और जब सब कर्म थोड़े-बहुत किसी-न-किसी दोषसे अवश्य आच्छन्न रहते हैं, तब मनुष्य फलाकाङ्क्षाविरहित होकर ईश्वरार्पण-भावनासे वही कर्म क्यों न करे, जो उसका स्वधर्म हो ?

इस निष्कामकर्मको गीतामें यज्ञकी संज्ञा दी गयी है। वह इस अर्थमें कि मनुष्य अपने प्रत्येक कर्मको यज्ञ समझे, जैसे यज्ञमें हवि अग्निको अर्पित कर दी जाती है, वैसे ही वह सब कर्म ईश्वरार्पित कर दे। पश्चात् जो कुछ कर्म-फल प्राप्त हो उसको यज्ञ-शेषके रूपमें कृतज्ञतापूर्वक ग्रहण कर ले। श्रीभगवान्‌की घोषणा है—'जो कर्म यज्ञकी भावनासे सम्पन्न होता है, उस कर्मको छोड़कर यह सारा संसार कर्मबन्धनमें डालनेवाला है, अतः मुक्तसङ्ग होकर यज्ञकी भावनासे (ही) कर्म करना चाहिये[५७]। उस समय बन्धनके कारण कर्मोंके (फलकी दृष्टिसे) विलीन होते देर नहीं लगती[५८]।

कर्म करनेके इस अत्युत्तम ढंगका नाम ही कर्मयोग है। जो पुरुष मनसे इन्द्रियोंको वशमें कर अनासक्त-भावसे कर्मेन्द्रियोंके द्वारा इस कर्मयोगका आचरण करता है, वह श्रेष्ठ है[५९]। परमप्रभुका शरणागत ऐसा निष्काम-कर्मयोगी सम्पूर्ण कर्म निरन्तर करता हुआ भी परम-प्रभुके प्रसादसे सनातन अविनाशी परमपदको प्राप्त कर लेता है[६०]। संन्यास और निष्कामकर्मयोग—दोनोंको ही परमकल्याणकारी मानते हुए भी योगिराज श्रीकृष्ण इस योगको विशेष श्रेष्ठ बतलाते हुए[६१] कहते हैं—'हे पार्थ! सब प्रकारके कर्म आसक्ति तथा फलोंको त्यागकर ही करने चाहिये, यह मेरा निश्चित मत[६२] है'; क्योंकि नियत कर्मको स्वकर्तव्य मानकर उसके प्रति सम्पूर्ण आसक्ति तथा फलका त्याग ही वस्तुतः सात्त्विक त्याग है।[६३]

(समाप्त)

कर्मयोगकी साधना-पद्धति

(लेखक—श्रीसोमचैतन्यजी श्रीवास्तव, शास्त्री, एम्० ए०, एम्० ओ० एल्०)

(गताङ्क पृष्ठ-संख्या ३२८से आगे)

कामनाको विजातीय वस्तु समझकर त्याग दिया जाय इसके लिये पुरुषको प्रकृतिसे पृथक् देखना आवश्यक है। प्रकृतिसे मुक्त होकर ही पुरुष स्वतन्त्र एवं निज शुद्ध चैतन्य-स्वरूपमें अवस्थित हो सकता है। व्यष्टि-शरीरमें पुरुषको प्रकृतिसे तादात्म्यभावको प्राप्त करानेवाला अहंकार है। इसीका बीज 'इच्छा' या कामनाके रूपमें अङ्कुरित होता है। अहंकार ही शरीर, प्राण, मन एवं बुद्धिमें सर्वत्र विभिन्न प्रकारकी सत्ताका और कामनाओंके रूपमें अधिकार जमाये हुए है। अतः इसकी विविध गतियों—इसको प्रिय लगनेवाली प्रवृत्तियोंका त्याग भी आवश्यक है। यही निष्कामकर्मका प्रथमारम्भ है। समबाह्य या अन्तर्जगत्‌की किसी भी घटना

५५—गीता १८। ४५ पर सर राधाकृष्णन्। ५६—गीता १८। ४८; ५७—गीता ३। ९; ५८—गीता ४। २३; ५९—गीता ३। ७; ६०—गीता १८। ५६, ३। १९; ६१—गीता ५। २; ६२—गीता १८। ६; ६३—गीता १८। ९।

या घात-प्रतिघातसे यदि पुरुष थोड़ा भी क्षुब्ध होता है तो यह इस बातका संकेत है कि हमारी सत्तामें कहीं-न-कहीं अपूर्णता है—छिद्र है, जिसमें अहंकारका क्षुद्र अंश छिपा हुआ है। उसका सम्पूर्ण लोप नहीं हुआ है। अहंका छोटा-सा बीज भी असावधान-क्षणोंमें सम्पूर्ण योग-साधनाका नाश कर सकता है; अतः कर्मयोगके साधकको सर्वथा निरहंकार एवं मिथ्या कर्तृत्वभावनासे मुक्त होना चाहिये।

प्रकृतिसे पुरुषको पृथक् करनेके अभ्यासकी दो प्रक्रियाएँ हैं। एक है वेदान्तकी 'नेति-नेति'की प्रक्रिया, जिसमें बार-बार यह कहा जाता है कि 'मैं मन नहीं हूँ', 'मैं प्राण नहीं हूँ', 'मैं शरीर नहीं हूँ' और इस प्रकार मन, बुद्धि, प्राण, शरीरादिसे अपना तादात्म्य छुड़ाया जाता है—मन, बुद्धि आदिको अपने वास्तविक आत्मासे पृथक् करके देखा जाता है।[1] इस प्रक्रियाका कुछ कालतक अभ्यास करनेके बाद यह अनुभव होता है कि मन-बुद्धि, प्राण और शरीरके सब कार्य और ये स्वयं भी बहिर्भूत हैं तथा स्वतःसिद्ध आत्मसत्ताकी चेतना इन सबसे अलग है।

पुरुष और प्रकृतिके पार्थक्यकी दूसरी प्रक्रिया है सांख्ययोगकी। इसमें अपने मनके साथी होनेकी भावना करनी होती है और यह मानना होता है कि मन, बुद्धि, प्राण, शरीरका सारा कर्म एक बाहरी खेल है और यह खेल मैं नहीं हूँ, न यह खेल मेरा है, बल्कि यह खेल प्रकृतिका है (गीता ३। २८)। मेरी बाह्य सत्—सत्ता ही 'मुझ' पर लादी गयी है। मैं साक्षी पुरुष हूँ, उदासीन हूँ। इन सब चीजोंमेंसे मैं किसीसे बँधा नहीं हूँ। इस प्रकार अपने अंदर एक पार्थक्य हो जाता है, साधक अपने अंदर एक स्थिर, शान्त, पृथक् चैतन्यकी उत्तरोत्तर वृद्धिका अनुभव करता है और यह चैतन्य मन, बुद्धि, प्राण और शरीररूप इस प्रकृतिके बाह्य नृत्यसे अपने-आपको सर्वथा पृथक् समझता है। प्रायः जब ऐसा होता है तब चैतन्यकी शान्ति और पराशक्तिका कर्म तथा योगका पूर्ववेग अतिशीघ्र नीचे अपनी सत्तामें ले आना सम्भव होता है।

प्रकृतिसे पुरुषका पार्थक्य-अनुभव सिद्ध हो जानेपर 'समत्व'की प्राप्ति हो जाती है। यही निष्कामताकी कसौटी है एवं भगवद्गीताके शब्दोंमें **'समत्वं योग उच्यते'** योगका प्रमुख लक्षण है[2]। समत्वकी स्थिति प्राप्त होनेपर योगी बाह्य या आन्तरिक सभी घटनाओं, दशाओं एवं परिस्थितियोंमें सर्वथा असंस्पृष्ट एवं निरासक्त रह सकता है, जो पूर्ण स्वतन्त्रताका चिह्न है।

समत्वकी स्थितिकी प्राप्तिके लिये संसारके शीत-उष्ण, सुख-दुःख, हानि-लाभ, मान-अपमान आदि घात-प्रतिघात द्वन्द्वोंको समभावसे सहन करनेका अभ्यास करना पड़ता है। इसमें अन्तरात्मा साक्षीभावसे निःसङ्ग एवं निःस्पृह होकर प्रकृतिके कार्योंको देखनेका अभ्यास करता है। सुख-दुःखमें सम रहनेवाला योगी त्रिगुणोंका अतिक्रमण करके अमृतत्वको प्राप्त होता है।

जब बुद्धि भी समभावमें स्थित हो जाती है, तब साधककी आत्माके चैतन्यका प्रसार हो जाता है, वह विश्वात्मभावको प्राप्त होता है, सभी भूतोंको अपनी आत्मामें देखता है एवं अपनी आत्मामें सभी भूतोंको अवस्थित अनुभव करता है। इस आत्माकी एकताका ज्ञान होते ही वह मित्र, वैरी, उदासीन, बन्धु,

१–मनोबुद्ध्यहंकारचित्तानि नाहं न च श्रोत्रजिह्वे न च घ्राणनेत्रे।
न च व्योमभूमिर्न तेजो न वायुश्चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्॥

२–योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय। सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥
(गीता २। ४८)

साधु एवं पापी सभीको समबुद्धिसे ही देखता है। ब्राह्मण, गौ, शूद्र, चण्डाल, श्वान सभीमें वह समदृष्टि रखता है; क्योंकि वह जानता है कि भेद ऊपरी स्तरपर नाम एवं रूपमें है। वस्तुतः इनमें एक ही आत्माका वास है। जबतक सम्पूर्ण भूतोंके साथ एकात्मभावकी प्राप्ति नहीं होती, तबतक हम आध्यात्मिकताको न तो जान सकते हैं और न समझ सकते हैं। सब भूतोंमें समभाव होनेपर ही ब्रह्मकी पराभक्तिकी प्राप्ति होती है[3]।

आत्मदर्शन होनेपर ही हमें ब्रह्मका सभी प्राणि-पदार्थोंमें दर्शन होगा[4]। 'एक', 'सम' ब्रह्मकी सर्वत्र उपस्थितिके कारण ही इस सृष्टिकी सभी वस्तुएँ एक एवं अविभाज्य हैं। विभाजन तो केवल ऊपरी सतह पर ही है, जहाँ अज्ञानकी क्रीडा चल रही है। ब्रह्मसृष्टिके सभी पदार्थ सूत्रमें मणियोंकी भाँति पिरोये हुए हैं[5]। साधक साम्यकी भावनामें स्थित होकर ही ब्रह्मकी समतामें निवास कर[6] प्रकृतिका अतिक्रमण कर सकता है। ब्रह्म सभी पदार्थोंमें सर्वत्र समरूपमें स्थित है, इसीलिये वह पूर्ण ज्ञानके साथ प्रत्येक पदार्थमें उसकी प्रकृति एवं सत्यके अनुसार कार्य करता है। साधक जब समत्वकी भावनामें अवस्थित होगा तो वह भी प्रत्येक वस्तु एवं प्राणीके साथ उसके प्रकृतिगत सत्य एवं धर्मके अनुसार पूर्ण ज्ञानके साथ समभावसे कार्य एवं व्यवहार करनेमें समर्थ होगा। 'सम' ब्रह्मके साथ एकत्वकी अनुभूति हो जाने एवं उसमें निवास करनेपर साधक अन्तमें पूर्ण समता, पूर्ण आत्मस्थ शान्ति एवं कूटस्थ आनन्दकी दशाका अनुभव करता है।

योग-साधनामें व्यष्टिगत आत्मा एवं हृदयस्थित व्यष्टि भगवान्, विश्वात्मा एवं विश्वातीत परमात्मा तीनोंके साथ एक साथ संयुक्त होना होता है। हृदय-चक्रमें ध्यान करनेसे हमारा व्यष्टि आत्मा या अन्तरात्मा हृदय-द्वारसे उद्घाटित होकर पहले हमें व्यष्टिगत भगवान्से—हमारे साथ आन्तरिक सम्बन्ध रखनेवाले भगवान्से युक्त करता है। यह मुख्यतः प्रेम और भक्तिका मूल है। मस्तकसे ऊपर व्योमचक्रमें ध्यानद्वारा ऊर्ध्वकी ओर उद्घाटित होनेपर समग्र भगवान्से हमारा सम्बन्ध स्थापित होता है, तब शान्ति एवं स्थिरताके अवतरणके बाद भगवान्की पराशक्ति ज्योति, ज्ञान, आनन्द एवं क्रियाकी शक्तिके साथ हमारे अंदर अवतरित होती है तथा एक साथ ही सिद्धि एवं मुक्ति दोनोंके लिये कार्य करती है। पवित्रता, सच्चाई, श्रद्धा, अभीप्सा, शरणागति, समर्पणके द्वारा निरन्तर जागरूक रहकर सभी भगवद्विरोधी प्रवृत्तियों, शक्तियोंका त्याग, आत्मोद्घाटन, पराशक्तिके अवतरण एवं उसके द्वारा साधकको व्यष्टि चैतन्यको अधिकृत कर उसकी प्रकृतिमें अखण्डता और सामञ्जस्य-को स्थापितकर दिव्यीकरणके लिये कार्य करनेकी आवश्यकता है।

साधनाकी कोई भी अवस्था ऐसी नहीं है, जिसमें कर्म करना असम्भव हो और कर्मको भगवद्ध्यानसे विसंगत जानकर त्याग देना पड़े। कर्मयोगमें कर्मका आश्रय मन न होकर भगवान् होते हैं तथा हमारी सम्पूर्ण सत्ता, समस्त संकल्प एवं शक्तियाँ क्रमशः अधिकाधिक भगवान्की ओर उद्घाटित होती हुई अधिकाधिक सामञ्जस्यपूर्ण, शुद्ध एवं दिव्य बनकर भगवान्को समर्पित होती हैं। ज्यों-ज्यों हमारी सत्ताके विविध अङ्गोंमें समर्पणका प्रसार होता जाता है एवं समर्पण शुद्ध, निष्काम और समग्र होता जाता है, त्यों-त्यों हम अधिकाधिक भगवान्के साथ एकात्मभावका

३–समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥ (गीता १८। ५४) ४–वही ५। १९, ९। २९, १३। २७-२८।
५–मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय। मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥ (वही ७। ७)
६–वही ५। १९, ६। ३०–३२। ७–वही १२। ६, ८, १४, ९। २७।

अनुभव करते हैं। हमारे समर्पणकी शुद्धता, समग्रता तथा भगवान्‌के साथ तादात्म्य और एकात्म्य होनेकी मात्राके अनुपातमें ही हमारे कर्मके उपकरणोंकी शक्ति एवं हमारे भागवतकर्म करनेकी पात्रता, योग्यता एवं सामर्थ्यमें वृद्धि होती जाती है। जब हम बहिर्मुखी 'अहं'के स्थानपर भगवान्‌को अपने जीवन, प्रकृति और चेतनाका स्वामी, प्रेरक और कर्म-यज्ञके फलका भोक्ता स्वीकार कर लेते हैं, निज कामनाके स्थानपर निष्काम भावनाकी स्थापना करते हैं, तब कर्मफलकी तृष्णासे कर्मकी प्रेरणा तथा शक्ति ग्रहण न करके भगवान्‌के दिव्य प्रेम, आनन्द एवं भगवान्‌की सेवाके सुखको अपने कर्मका प्रेरक मानकर इनसे कर्म करनेकी सामर्थ्य ग्रहण करते हैं, तब उस स्थितिमें स्वतः ही हमारी चेतना, ईश्वरीय ज्ञानकी ज्योतिसे परिपूर्ण होजाती है। (क्रमशः)

निष्कामताकी साधनामें तीन बातें

(२)

(गताङ्क पृष्ठ० सं० २८६से आगे)

तीन बातोंका सदा सत्-आग्रह रखो—(१) सत्यका, (२) धर्मका और (३) सच्चरित्रताका।

तीनकी दशापर विशेष ध्यान रखो—(१) विधवा स्त्रीकी (२) अनाथ बालक और (३) दबे हुए तथा अनाश्रित प्राणीकी।

तीनका सदा हृदयसे आदर करो—(१) भगवान्‌के विग्रहका, (२) संत-महात्माका और (३) सत्-शास्त्रका।

तीन कामोंको खूब मन लगाकर करो—(१) भजन, (२) भगवान्‌का ध्यान और (३) सत्संग।

तीन आँसुओंको पवित्र मानो—प्रेमके, (२) करुणाके और (३) सहानुभूतिके।

तीन आँसुओंको अपवित्र मानो—(१) शोकके, (२) क्रोधके और (३) दम्भके।

तीन बनाओ-(१) धर्मशाला, (२) कुआँ और (३) देवमन्दिर।

तीन चीजें लगाओ-(१) वृक्ष, (२) प्याऊ और (३) अन्नक्षेत्र।

तीन बातोंको मनकी उन्नतिके लिये नित्य नियमसे करो-(१) स्वाध्याय, (२) ध्यान और (३) अपने मानसिक दोषोंका स्मरण।

तीन बातें स्वास्थ्यके लिये नित्य-प्रति करो-(१) शुद्ध वायुमें घूमना, (२) नियमित आहार-विहार और (३) कुपथ्यका त्याग।

तीन चीजोंसे ज्ञान मिलता है-(१) श्रद्धा, (२) तत्परता और (३) इन्द्रिय-संयम।

तीन जगह प्रतिदिन जाओ-(१) देवमन्दिर, (२) संतकी कुटिया और (३) आजीविकाके स्थानपर।

तीनको प्रतिदिन प्रणाम करो-(१) ईश्वर, (२) माता-पिता, पति आदि गुरुजन और (३ संत-महात्मा।

तीनसे घृणा करो-(१) पापसे, (२) अभिमानसे और (३) अपने मनकी मलिनतासे।

तीनपर विश्वास करो-(१) भगवान्‌की दयापर, (२) आत्माकी शक्तिपर और (३) सत्य, शुद्ध आचरणपर।

तीन आवश्यक साधन करो-(१) समता, (२) संयम और (३) सब प्राणियोंके हितकी चेष्टा।

तीनका चिन्तन नित्य करो-(१) भगवान्‌का, (२) संतवाणीका और (३) सदाचरणका।

तीन मुख्य साधन करो–(१) वैराग्य, (२) अभ्यास और (३) भगवान्‌की कृपापर विश्वास ।

तीन महान् शक्तियोंका आश्रय ग्रहण करो–(१) भगवान्‌की शरणागति, (२) भगवत्कृपा और (३) आत्मशक्ति ।

तीन बातोंको याद रखो–(१) अपने द्वारा की हुई दूसरेकी बुराई, (२) दूसरेके द्वारा किया हुआ अपना उपकार और (३) धन-मान-जीवन आदि सब अनित्य और विनाश होनेवाले हैं, यह निश्चय ।

तीन बनो–(१) नम्र, (२) सरल और (३) ईश्वर-विश्वासी ।

तीनका आश्रय करो–(१) ईश्वरका, (२) महात्माका और (३) अभिमानरहित पुरुषार्थका ।

तीन बातोंको देखो–(१) अपने दोषको, (२) दूसरेके गुणको और (३) महात्माओंके त्यागपूर्ण आदर्श आचरणको ।

तीन बननेमें सुख मानो—(१) अज्ञात सेवक, (२) व्यर्थ निन्दाका पात्र और (३) परसुखका साधन ।

तीन कामोंसे कम सम्पर्क रखो–(१) सभा-समिति, (२) अखबारनवीसी और (३) दलबंदी ।

तीन न बनाओ–(१) शिष्य, (२) जमात और (३) मठ । (क्रमशः)

भगवद्भक्त रबियाकी निष्कामता

रबियाका जन्म तुर्किस्तानके बसरा नामक नगरमें एक गरीब मुसलमानके घर हुआ था । रबियाके माँ-बाप उसे बहुत छोटी उम्रमें ही अनाथ छोड़कर चल बसे थे । एक बार दुर्भिक्षके समय किसी दुष्ट पुरुषने रबियाको एक धनीके हाथ बेच दिया । वहाँ गुलाम रबियापर तरह-तरहके अत्याचार होने लगे । रबिया कष्टसे पीड़ित होकर अकेलेमें चुपचाप परमात्माके सामने रो-रोकर अपना दुखड़ा सुनाया करती । इस संसारमें एकमात्र ईश्वरके सिवा उसे सान्त्वना देनेवाला और कोई न था । गरीब, अनाथका और होता भी कौन है ?

धनी मालिकके जुल्मोंसे घबराकर उससे पिण्ड छुड़ानेके उद्देश्यसे एक दिन रबिया छिपकर भाग निकली; पर थोड़ी दूर जानेपर वह ठोकर खाकर गिर पड़ी । उसका दाहिना हाथ टूट गया । विपत्तिपर नयी विपत्ति आयी ! किंतु अमावास्याकी घोर निशाके बाद ही शुक्लपक्षका शुभारम्भ होता है । विपत्तिकी हद हो जानेपर ही सुखके दिन लौटा करते हैं । रबिया उस नयी विपत्तिसे विचलित हो रो पड़ी और उसने ईश्वरकी शरण लेकर कहा—'ऐ मिहरबाँ मालिक ! मैं बिना माँ-बापकी यतीम, गुलाम पैदाइशके वक्तसे ही परेशानीमें पड़ी हुई हूँ । दिन-रात यहाँ कैदीकी तरह मरती-पचती किसी तरह जिंदगी बसर करती थी; पर रहा-सहा अब यह हाथ भी टूट गया । क्या तुम मुझपर मेहरबान न होगे ? दीन-अनाथोंके मालिक ! तुम मुझसे क्यों नाराज हो ?'

रबियाकी कातर—करुण-वाणी और दुःखित हृदयकी पुकार भगवान्‌ने सुनी । तभी रबियाको सान्त्वनामयी दिव्य वाणी सुनायी दी, जैसे स्वयं भगवान् कह रहे हैं—'बेटी ! तू चिन्ता न कर । तेरे सारे संकट शीघ्र ही दूर हो जायँगे ।' प्रभुके प्रति की गयी सच्ची करुण-प्रार्थनाका उत्तर प्रभुकृपा होनेपर तत्काल ही मिला करता है । रबिया-को अब आशा और हिम्मत हो गयी । वह प्रसन्नचित्तसे मालिकके घर लौट आयी; पर अब उसका जीवन पलट गया । कामकाज करते समय भी उसका ध्यान प्रभुके चरणोंमें ही रहने लगा । वह अब रातों जागकर परम-

पिता-परमात्मासे प्रार्थना किया करती। भजनके प्रभावसे उसका तेज बढ़ गया। एक दिन आधी रातको रबिया अपनी कोठरीमें घुटने टेके बैठी करुणस्वरसे ईश-प्रार्थना कर रही थी। दैवी-इच्छासे उसी समय उसका मालिक जागा। उसने बड़ी मीठी करुणोत्पादक आवाज सुनी। अनुमान लगाकर वह शीघ्र ही रबियाकी कोठरीके दरवाजेपर आया। पर्देकी ओटसे उसने देखा—कोठरीमें अलौकिक प्रकाश छाया हुआ है। रबिया अनिमेष नेत्रोंसे बैठी हुई प्रार्थना कर रही है। उसने रबियाके ये शब्द सुने—'मेरे मालिक! अब मैं सिर्फ तुम्हारा ही हुक्म उठाना चाहती हूँ। लेकिन क्या करूँ, जितना चाहती हूँ उतना हो नहीं पाता। मैं खरीदी हुई गुलाम हूँ। मुझे गुलामीसे फुरसत ही कहाँ मिलती है?'

दीन-दुनियाके सच्चे मालिकने जब रबियाकी प्रार्थना सुन ली तो उसके उस मालिकका भी मन, जिसकी वह गुलाम थी, उसी क्षण पलट गया। रबियाकी तेज-पुञ्जमयी मूर्ति देखकर और उसकी भक्ति-करुणापूर्ण प्रार्थना सुनकर वह चकित रह गया। वह धीरे-धीरे रबियाके समीप चला गया। उसने देखा—रबियाके भक्तिभावपूर्ण मुखमण्डल और भव्य ललाटपर दिव्य ज्योति छिटकी हुई है। उसी स्वर्गीय ज्योतिसे मानो सारे घरमें प्रकाश हो रहा है। इस दृश्यको देखकर वह भय और आश्चर्यमें डूब गया। उसने सोचा कि ऐसी पवित्र और पूजनीय देवीको गुलामीमें रखकर मैंने बड़ा ही पाप किया है। प्रभुकी ऐसी सेविका—इस देवीकी सेवा तो मुझको ही करनी चाहिये। रबियाके प्रति उसके मनमें भारी श्रद्धा उत्पन्न हो गयी। उसने विनीत स्वरसे कहा—'देवि! मैं अबतक तुझे पहचान नहीं सका था। आज भगवत्कृपासे मैंने तेरा प्रभाव जाना। अब तुझे मेरी सेवा नहीं करनी पड़ेगी। तू सुखपूर्वक मेरे घरमें रह। मैं ही तेरी सेवा करूँगा।'

रबियाने कहा—'मालिक! मैं आपके द्वारा सेवा कराना नहीं चाहती। आपने इतने दिनोंतक मुझे घरमें रखकर खानेको दिया, यही मुझपर आपका बहुत बड़ा उपकार है। अब आप दया करके मुझको दूसरी जगह चले जानेकी स्वतन्त्रता दे दें तो मैं किसी निर्जन स्थानमें जाकर आनन्दसे भगवान्‌का भजन करूँ।' मालिकने रबियाकी बात मान ली। अब रबिया गुलामीसे छूटकर अपना सारा समय प्रभु-चिन्तनमें बिताने लगी। उसके हृदयमें भगवत्प्रेमका समुद्र लहराने लगा। सांसारिक आसक्तिका तो अब वहाँ कहीं नाम-निशान भी नहीं रह गया था। रबियाने अपना जीवन सम्पूर्णरूपसे परमात्माके चरणोंमें अर्पित कर दिया। रबियाके जीवनकी कुछ उपदेशप्रद घटनाओंका मनन कीजिये—

एक बार रबिया उदास बैठी हुई थी। दर्शनके लिये आनेवाले लोगोंमेंसे एकने पूछा—'आज आप उदास क्यों हैं?' रबियाने जवाब दिया—'आज सवेरे मेरा मन स्वर्गकी ओर चला गया था, इसके लिये मेरे आन्तरिक परम सखाने मुझे फटकारा (धिक्कारा) है। मैं इसी कारण उदास हूँ कि मेरा पाजी मन अपने नित्य-सखाको भुलाकर दूसरी ओर क्यों गया!' रबिया ईश्वरको अपने सखाके रूपसे भजती थी।

एक समय रबिया बहुत बीमार थी। सूफियान नामक एक साधक उससे मिलने गया। रबियाकी बीमारीकी हालत देखकर सूफियानको बड़ा खेद हुआ, परंतु वह संकोचके कारण कुछ भी कह नहीं सका। तब रबियाने उससे कहा—'भाई! तुम कुछ कहना चाहते हो तो कहो।'

सूफियानने कहा—'देवि! आप प्रभुसे प्रार्थना कीजिये, प्रभु आपकी बीमारीको जरूर मिटा देंगे।'

रबियाने मुसकराते हुए उत्तर दिया—'सूफियान! क्या तुम इस बातको नहीं जानते हो, कोई भी कार्य उसकी इच्छा और इशारेसे ही होता है! क्या इस

बीमारीमें मेरे प्रभुका हाथ नहीं है !' यह भी तो उसीका अमृतमय प्रसाद है, ऐसा क्यों नहीं समझते ?

सूफियानने कहा—'हाँ, उसकी इच्छा बिना तो क्या होता है ?

'फिर भी तुम मुझसे मेरी बीमारीके लिये प्रार्थना करनेके लिये कह रहे हो ! जो मेरा परम सखा है, जिसका प्रत्येक विधान प्रेम और हितसे भरा होता है, उसकी इच्छाके विरुद्ध कार्य करना क्या प्रेमीके लिये कभी उचित है ?' रबियाका कथन था । प्रभुके प्रति पूर्ण निर्भरता और समर्पणका कैसा सुन्दर भाव है रबियाकी उक्तिमें ।

संत हुसैन बसरीने एक बार रबियासे पूछा—'क्या आप विवाह करना चाहती हैं ?' रबियाने जवाब दिया—'विवाह शरीरसे होता है, परंतु मेरा शरीर कहाँ है । मैं तो मनके साथ इस तनको भी प्रभुके चरणोंमें अर्पित कर चुकी हूँ; यह शरीर अब उसीके अधीन है और उसीके कार्यमें लगा हुआ है । विवाह फिर किसके साथ किस प्रकार करूँ ?'

रबियाने अपना सब कुछ प्रभुको अर्पण कर दिया था, उसके समीप एक प्रभुके सिवा ऐसी कोई वस्तु थी ही नहीं, जिसे वह अपनी कहती या समझती हो ।

एक बार हुसैन बसरीने पूछा—'देवि ! आपने ऐसी ऊँची स्थिति किस प्रकार प्राप्त की ?'

रबिया—'जो कुछ मिला था, वह सब खोकर ही उसे पाया है ।'

रबिया सबसे प्रेम करती थी, पापी-तापी—सबके प्रति उसका दयाका बर्ताव था । एक दिन किसी एक मनुष्यने रबियासे पूछा—'आप पापरूपी राक्षसको तो शत्रु ही समझती हैं न ?'

रबियाने कहा—'ईश्वरके प्रेममें छकी रहनेके कारण मुझे न किसीसे शत्रुता करनी पड़ती है और न किसीसे लड़ना ही पड़ता है । प्रभुकृपासे मेरा कोई शत्रु रहा ही नहीं ।'

एक समय कुछ लोग रबियाके पास गये । रबियाने उनमेंसे एकसे पूछा—'भाई ! तू ईश्वरकी सेवा किसलिये करता है ?' उस व्यक्तिने कहा—'स्वर्ग अत्यन्त ही रमणीय स्थान है, वहाँ भाँति-भाँतिके भोग और असीम सुख हैं, उसी सुखको पानेके लिये मैं भगवान्‌की भक्ति करता हूँ ।'

रबियाने कहा—'बेसमझ लोग ही भय या लोभके कारण प्रभुकी भक्ति किया करते हैं; न करनेसे तो यह भी अच्छा ही है; परंतु मान लो, स्वर्ग या नरक दोनों ही यदि न होते तो क्या तुम लोग प्रभुकी भक्ति नहीं करते ? सच्चे भक्तकी ईश्वर-भक्ति किसी भी लोक-परलोककी चाह या प्राप्तिके लिये नहीं होती, वह तो अहैतुकी हुआ करती है ।' निष्काम-भक्तिका कैसा आदर्श निरूपण है ।

एक बार एक धनी मनुष्यने रबियाको बहुत फटे-पुराने चिथड़े पहने हुये देखकर कहा—'तपस्विनी ! यदि आपका इशारा हो तो आपकी इस दरिद्रताको दूर करनेके लिये यह विनम्र सेवक तैयार है ।'

रबिया—'सांसारिक दरिद्रताके लिये किसीसे कुछ भी माँगते मुझे बड़ी लज्जा मालूम होती है । जब यह सारा जगत् मेरे प्रभुका ही राज्य है, तब उसे छोड़कर अन्य किसीसे मैं क्यों माँगूँ ? मुझे जरूरत होगी तो अपने मालिकके हाथसे आप ही ले लूँगी ।'

एक समय एक मनुष्यने रबियाके फूटे लोटे और फटी गुदड़ीको देखकर कहा—'देवि ! मेरी अनेक धनियोंसे मित्रता है, आप आज्ञा करें तो आपके लिये जरूरी सामान ले आऊँ ?'

रबिया—'तुम बहुत गलती कर रहे हो, वे कोई भी मेरे अन्नदाता नहीं हैं । जो यथार्थ जीवनदाता है, वह

क्या गरीबीके कारण गरीबको भूल जाता है और क्या धनके कारण ही वह धनवानोंको याद रखता है ?'

रबियाका मन सदा-सर्वदा प्रभुकी उपासनामें लगा रहता था। वह दिन-रात प्रभुके चिन्तनमें अपना समय बिताती। एक बार रबियाने प्रभुसे प्रार्थना की—'स्वामिन्! तू ही मेरा सब कुछ है, मैं तेरे सिवा और कुछ भी नहीं चाहती। हे प्रभो! यदि मैं नरकके डरसे तेरी पूजा करती हूँ तो मुझे नरकाग्निमें भस्म कर दे। यदि मैं स्वर्गके लोभसे तेरी सेवा करती हूँ तो स्वर्गका द्वार मेरे लिये सदाको बंद कर दे और यदि मैं तेरे लिये ही तेरी पूजा करती हूँ तो अपना परम प्रकाशमय सुन्दर रूप दिखलाकर मुझे कृतार्थ कर।'

रबियाका शेष जीवन बहुत ही ऊँची अवस्थामें बीता। हिजरी सन् १३५में रबियाने भगवान्‌में मन लगाकर इस नश्वर शरीरको त्याग दिया और आदर्श निष्काम-भक्तिका आदर्श छोड़ गयी।

निष्काम-कर्मयोगमें प्रयत्नके प्रति सावधानी

(लेखक—स्व० पानुगंटि लक्ष्मीनरसिंहराव)

एक दिव्य तेजोमय दीपक जल रहा है, उसको देखते ही आँखें चौंधिया रही हैं। उसके पास पहुँचनेमें जल्दी मत करो। सामनेवाले उस दीपकके कारण बीचका मार्ग अन्धकारमय हो गया है। निरन्तर तैयारीके साथ और नित्य जागरूकताके साथ यदि तुम फूँक-फूँककर चरण रखते जाओगे तो उस दीपकके पास सुखपूर्वक अवश्य पहुँच सकोगे। किसी फलका मनमें निश्चय कर लेनेपर उसकी चिन्ता बिल्कुल छोड़ देनी चाहिये। केवल उसके साधक कर्मोंका सावधानी तथा लगनके साथ आचरणमात्र करते रहना चाहिये। यह नहीं कहा जा सकता कि सभी प्रयत्नोंमें सफलता ही मिलेगी। सबमें सफलता ही होती तो पृथ्वी अबतक स्वर्ग बन गयी होती। तुम एक कर्म करना चाहते हो। उसके लिये प्रयत्न करते हो। तुम्हारे उस कर्मकी पूर्ति नहीं होती। तुम सोचते हो कि उसकी सिद्धि क्यों नहीं हुई? सौ कर्मोंमें निन्यानबे कर्म प्रायः प्रयत्नाभावके ही कारण निष्फल होते हैं। अतः तुम्हारे लिये प्रयत्न करना ही प्रधान है, फल नहीं। निरन्तर फलकी वाञ्छा करके तुम प्रयत्नमें त्रुटि कर रहे हो। इसलिये तुमसे फलसिद्धि दूर भाग रही है। भगवान्‌को भी वशमें करनेके लिये रज्जुओंका प्रबन्ध करते हो! दूसरोंके भी चरणोंका आश्रय लेते हो। फलसम्बन्धी अत्यासक्ति ही इसका कारण है।

अतः तुम फलकी आतुरताको छोड़ो। प्रयत्न करते जाओ। पूर्ण प्रयत्न करना ही तुम्हारा धर्म है। फल दैवाधीन है, वह मिले या न मिले। जिसमें ऐसी मनः-स्थिरता हो, वही संसारकी यात्रा सुचारु-रूपसे कर सकता है। मनीषियोंका कथन है कि प्रत्येक कर्म-फलको श्रीकृष्णार्पण करना चाहिये। त्रिकरण-शुद्धिके साथ देवार्पण करना चाहिये। गीताके उपदेश—'फलाभिसन्धिसे रहित होकर काम करो'—का सार यही है। यदि तुम ऐसा करते तो तुम्हें दुःख क्यों होता? उत्साहहीनता क्यों आती? धैर्यशून्यता क्यों होती? पूर्ण कर्माचरण करते तो तुम्हें उसका पूर्ण फल मिल जाता। वैसा न किया तो सोचो, दोष तुम्हारा है या संसारका? इसके अतिरिक्त एक बात और है। वस्तुतः तुम्हारे अंदर न यथार्थ अनुराग है, न यथार्थ त्याग है, न यथार्थ शक्ति है। तुम अपने पुत्रसे प्रेम करते हो। संसारमें पुत्रसे बढ़कर हितकर

वस्तु तुम्हारे लिये और क्या है ? यदि वह पुत्र तुम्हारे प्रति तटस्थ रहा तो तुम आँखें निकालने लगते हो। बाहरसे नहीं तो आखिर मनसे उसको शाप देते हो। यदि तुम्हारा पुत्र तुमसे प्रेम न करेगा तो पता नहीं तुम्हारे अनुरागमें कौन-सी कमी हो जायगी। पिता जितना अधिक प्रेम अपने पुत्रपर प्रकट करता है, क्या पुत्र अपने पिताके प्रति कहीं उतना प्रेम दिखाता है ? न जाने जगत्में कितने पिता तुम्हारी तरह रो रहे हैं। तुम संकटके समय किसीकी रक्षा करते हो। धन देकर उसके संकटोंको दूर करते हो; पर यदि वह तुम्हारे प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट न करे, तो उसको कोसते हो, कृतघ्न बताते हो, उसको कब्जेमें लानेका प्रयत्न करते हो। तुमने हृदयपूर्वक त्याग करके उसकी रक्षा की है तो फिर तुम्हें उसकी कृतज्ञतासे क्या काम है ? हो सकता है कि वह तुम्हारा उपकार भूल जाय। परंतु तुम अपने सत्-स्वभावको क्यों छोड़ते हो ? सच्ची बात तो यह है कि तुम्हारा प्रत्येक कर्म बदलेमें फलप्राप्तिकी अपेक्षासे भरा है। तुम अपने ही लिये दूसरेका हित करते हो। अपने ही लिये दूसरोंपर त्याग करते हो। अपने ही लिये दूसरोंसे प्रेम करते हो। अपने ही लिये दूसरोंकी रक्षा करते हो। भगवान्से भी कुछ मत माँगो। शक्तिभर सत्कर्म करो। तनिक भी उसके फलकी चिन्ता मत करो। जिस प्रकार पुष्प विकसित होकर अपना सारा सौरभ पवनमें लुटाकर मुरझा जाता है और पृथ्वीपर गिर पड़ता है, उसी प्रकार फलापेक्षारहित होकर जन-कल्याणका सत्कार्य करते हुए प्राणत्याग करो। जिस प्रकार मेघ कुम्भवृष्टि—द्रोणवृष्टि करके धरादेवीको सस्य-श्यामला बनाकर आकाशमें विलीन हो जाते हैं, उसी प्रकार तुम फलकी वाञ्छासे रहित होकर यथासाध्य दूसरोंपर अनुराग प्रकट करके परमपदको प्राप्त करो।

ख्यातिकी आकाङ्क्षा करना भी दोष है। जिससे तुम्हारी हानि भी होती दीखे, ऐसे सत्कर्मका निःशंक होकर आचरण करो। तुमसे मैं पूछता हूँ—मानव तुम हो या वे रामानुज हैं, जिन्होंने गुरु-तिरस्कार-दोषको भी स्वीकार करके समस्त लोगोंको सबके परम कल्याणकारक मन्त्रराजका उपदेश दे दिया था। मनुष्य तुम हो या वे महात्मा बुद्ध हैं, जिन्होंने अपना वध करनेके लिये आये हुए कुमार्गगामी मनुष्योंको भी सन्मार्गी बनाया था। मनुष्य तुम हो या वे ईसा हैं, जिन्होंने अपने एक गालपर तमाचा लगानेवालेको दूसरा गाल दिखानेकी बात कही थी ? तुम्हारा जीवन सच्चा है या उस साध्वीका, जिसने अपनी एक ओरके भूषणोंको चोरोंके ले लेनेपर शेष भूषणोंको भी लुटानेके लिये दूसरी करवट ले ली थी ? तुम कौपीनके बदलेमें कंबल ले लेना चाहते हो ? तुम भगवान्के साथ भी यही निन्द्य सौदा करते हो ? ऐसे निन्द्य कर्मोंको अबसे पूरा छोड़ दो, सदा निष्कामभावसे प्रभुप्रीत्यर्थ सत्कर्म करो। फलकी चिन्ता कभी मत करो, प्रयत्नमें कमी मत आने दो। मनुष्य होकर चलो। ऐसा प्रवर्तन करो, जिससे संसारको तुम्हारे अंदर भगवान्के तेजके अंशका भान हो। इसी कर्म-रहस्य-तत्त्वको हमारे पूर्वजोंने बताया है।

(अनुवादक—श्रीबुलुसु उदयभास्करम्, विशारद)

कर्मयोगकी विशेषता—सामान्य समीक्षा

(२)

(लेखक—आचार्य पं० श्रीराजबलिजी त्रिपाठी, एम्० ए०, साहित्यरत्न, साहित्यशास्त्री, व्याकरणशास्त्राचार्य)

(गताङ्क पृष्ठ-संख्या ४३१ से आगे)

यतः यह विश्व गतिशील है, अतः (गच्छतीति) 'जगत्' है। इसका पर्यायवाची शब्द 'संसार' भी संसरणशील है, 'संसरतीति' 'संसारः' है। तात्पर्य यह कि सारा विश्व गतिशील है—चाहे वह चन्द्र-मार्तण्ड हो या कीट-पतंग। जड पदार्थ भी स्थिति आदि क्रियाओंसे युक्त हैं। निदान, क्रियाशीलता ही प्रकृतिका, सृष्टिका कार्य है। एक वाक्यमें कहें तो सारी सृष्टि क्रियानिष्ठ है। सृष्टिकी क्रियाशीलता स्वाभाविक है। परंतु मानवकी क्रियाएँ सभी स्वाभाविक ही नहीं होतीं—कुछ सोद्देश्य भी होती हैं। मनुष्यकी जो क्रिया सोद्देश्य होती है उसे 'कर्म' कहा गया है। यद्यपि कर्म और क्रिया आपाततः (ऊपर-ऊपरसे) एक-से लगते हैं और कतिपय स्थलोंमें पर्याय भी हैं, पर दोनोंमें सूक्ष्म अन्तर है। जो क्रियाएँ शास्त्रकी विधि-निषेध-क्षेत्रमें आ गयी हैं, वे सभी कर्म कही जाती हैं। हाँ, पाचन-क्रिया, आन्त्रिक-क्रिया, श्वास-क्रिया प्रभृति क्रियाएँ क्रियामात्र हैं, कर्म नहीं। (आन्त्रिक-क्रिया, यन्त्रों या जड पदार्थोंकी हरकतें भी क्रियाएँ होती हैं।)

शास्त्रोंने कर्मके ऊपर गहराईसे विचार किया है। पूर्वमीमांसा तो कर्मका ही शास्त्र है[1]। कर्मविवेचनके संदर्भमें कर्मके भेद भी विभिन्न दृष्टियोंसे किये गये हैं। साधन-सिद्धिकी दृष्टिसे कर्मके दो भेद किये गये हैं—(१) सकामकर्म और (२) निष्कामकर्म। सकाम-कर्ममें यज्ञादि तो अनुष्ठेय हैं, किंतु शेष (कर्म) कामना-परक होनेसे निःश्रेयस्कर नहीं हैं, अतः उनके सम्बन्धमें कामचारिता या लोकेच्छा प्रवर्तिका है, मोक्षशास्त्र नहीं। इसलिये शास्त्र उन्हें अनुष्ठेय नहीं, कामना-मूलक कहते हैं[2]। मनुने उसे **'काम्यो हि वेदाधिगमः'** से सूचित किया है। किंतु निष्कामकर्म (फलेच्छासे रहित विशुद्ध कर्तव्यकर्म) करनेकी प्रेरणा सभी शास्त्र देते हैं। गीता तो स्पष्ट कहती है कि 'इसलिये तुम अनासक्त होकर—फलासक्तिसे अलग रहकर, कर्मफलके साथ मनका लगाव न रखकर, सदैव कर्तव्य कर्म किया करो—**'तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।'** पर इस पक्षमें भारी विप्रतिपत्ति (अड़चन) यह आती है कि फलासक्तिके बिना कर्म करना स्वाभाविक नहीं होनेसे[3] उसके प्रति प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती। अतः कर्मयोग-पद्धतिमें लोकसंग्रह और भगवदर्पणको कर्तव्य-प्रेरक उद्देश्यके रूपमें प्रतिष्ठित कर दिया गया है।

१—'कर्म मीमांसादर्शन' एक अच्छी पुस्तकमें भी कर्मकी विवेचना है, जो भरद्वाजमुनिद्वारा मीमांसादर्शनके पूर्वार्द्धके रूपमें बतायी गयी है। परंतु उसकी प्राचीनता निःसंदिग्ध नहीं है।

२—शास्त्रोंने अनुष्ठानकी दृष्टिसे स्वरूपपरक कर्मके चार भेद किये हैं—१—नित्यकर्म, २—नैमित्तिककर्म, ३—काम्यकर्म और ४—निषिद्धकर्म। इनमेंसे निष्कामकर्म साधकके लिये, नित्य-नैमित्तिक, अनुष्ठेय और काम्य एवं निषिद्ध—हेय बतलाये गये हैं। काम्य काममूलक होनेसे बन्धनकारक, अतः त्याज्य और निषिद्ध पाप-जनक होनेसे परिहेय कहे गये हैं। नित्यकर्म—सन्ध्या-वन्दन और नैमित्तिककर्म—धर्मशास्त्रोंमें विहित संस्कारादि माने गये हैं। विहित कर्म न करने और निषिद्ध कर्म हो जानेसे लगे प्रत्यवाय (पाप) अन्तःकरणकी मलिनताके परिहारके लिये धर्मशास्त्रोंमें (विहित प्रायश्चित्त कर्म भी नैमित्तिककर्मोंके भीतर आ जाते हैं।)

३—'प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते—जलताडनवत्।' बिना किसी प्रयोजन या उद्देश्यके मूर्ख भी किसी कार्यमें नहीं लगता, जैसे कोई नदी-किनारे बैठकर जल नहीं पीटता।

कहना न होगा कि ये सभी भगवदभीष्ट होनेसे सर्वथा निःश्रेयस्कर होते हुए भी सकामताकी श्रेणीमें, काम्य-कर्मोंकी कोटिमें नहीं आते; किंतु इतना तो मानना ही पड़ेगा कि इनके प्रेरकत्वतक पहुँचनेमें साधकको 'कल्याण-कामना' रखनी पड़ती है। फिर वही श्रेयः-कामना 'अनीहा' की कोटिमें जाकर, फलेच्छाराहित्य बनकर नैष्कर्म्य या निष्कामताका रूप ग्रहण कर लेती है। पुराने समयमें ऋषिलोग यज्ञादि काम्यकर्म[४] इसी अभिप्रायसे करते थे। भागवत (८ । १ । १४) का साक्ष्य है—

अथाग्रे ऋषयः कर्माणीहन्तेऽकर्महेतवे।
ईहमानो हि पुरुषः प्रायोऽनीहां प्रपद्यते॥

इसीसे ऋषि-मुनि नैष्कर्म्यस्थिति प्राप्त करनेके लिये पहले सकामविहित कर्मोंका अनुष्ठान करते रहे हैं। प्रायः (सकाम) कर्म करनेवाला पुरुष ही अन्तमें निष्क्रिय (निष्काम) होकर कर्म-बन्धनसे छूट जाता है। अतः नैष्कर्म्य-सिद्धि-हेतु शास्त्र-विहित कामना-परक यज्ञादि कर्म करते हुए निष्कामताकी दिशामें बढ़ना चाहिये।

सारांश यह कि सृष्टिका स'श्रेष्ठ प्राणी मनुष्य यतः मननशील जीव है, अतः इसका चरम लक्ष्य मनीषा-मान्य परम पुरुषार्थ मोक्ष है—विश्व-बन्धनसे सर्वथा मुक्त होकर उसे आत्म-स्वरूप परमानन्दमय हो जाना है—अन्य प्राणियोंकी भाँति विषय-भोगमात्र करना नहीं। किंतु हम जिस विश्वमें रहते हैं, वह कर्ममय है और कर्म बन्धन-कारक होते हैं, अतः स्वभावतः यह समस्या उठ खड़ी हो जाती है कि तब कर्म-बन्धनसे छूटनेका उपाय क्या है? शास्त्र-निर्दिष्ट साधन त्रितप (=कर्म, उपासना, ज्ञान) में अन्यतम कर्म-मार्ग (परिष्कृतरूपमें निष्काम-कर्मयोग) के सिद्धान्तानुसार इस संसारमें कर्म करते हुए ही सौ वर्षोंतक जीवित रहनेकी इच्छा करे—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳसमाः।
(ईशावास्योपनिषद् २)

क्योंकि विहित विधिसे अथवा कुशलतापूर्वक कर्म करनेपर मनुष्यमें उसका 'लेप' नहीं होता—**'न कर्म लिप्यते नरे'**[५]। यह कैसे?—कर्म करनेके विशेष कौशलसे, कर्मकी अनूठी युक्तिसे, कर्मयोगकी बौद्धिक साधनासे। कर्मकी कुशलता, कर्मकी युक्ति, कर्मयोगकी साधना क्या है?—गीता उसे 'योग' कहती है[६] और उसकी परिभाषासे सिद्धि और असिद्धिमें, कर्मके फलाफलमें एक समान रहने—समत्वभाव रखनेका उपदेश देती है[७]। फिर भी प्रश्न यह उठता है कि सिद्धि-असिद्धिमें स्वभाव-विरुद्ध 'समत्व' आ कैसे सकता है? निचोड़रूपमें समाधान यह है कि बुद्धियोगसे, बुद्धिकी युक्तिसे। तात्पर्य यह कि कर्मके स्वरूपतः जड होनेसे उसमें बन्धकत्व नहीं होता; बन्धन होता है कर्ताकी आसक्ति-बुद्धिमें, जिसे बुद्धियोगद्वारा निरस्त कर बन्धनोन्मुक्त होना सम्भव होता है[८]। हम यदि कर्मफलासक्तिको कर्मोंके फलोंके प्रति (किंतु कर्मोंके प्रति नहीं,) मनके लगावको तोड़कर फलबुद्धिको त्याग करके शास्त्रनिर्दिष्ट विहित कर्मोंको करते हुए नैष्कर्म्य (निष्कामता) प्राप्त कर लें तो निश्चय ही हमारा भला हो जाय, कल्याण सध जाय। भगवान्‌ने कहा है—**असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः** (गीता ३ । १९)—आसक्तिरहित होकर कर्तव्यकर्म करते हुए मनुष्य परम लक्ष्यको प्राप्त कर लेता है[९]। शास्त्रोंमें ऐसे लोगोंकी उपवर्णना है, जिन्होंने

४—'पुत्रकामो यजेत्' पुत्रकी इच्छावाला यज्ञ करे। 'स्वर्गकामो यजेत्' स्वर्ग चाहनेवाला यज्ञ करे प्रभृति शास्त्रवाक्य यज्ञादि कर्मोंके प्रति प्रवृत्तिके लिये प्रेरकतत्त्व हैं। गीताने भी उपर्युक्त उद्देश्यकी पूर्तिके लिये ही स्पष्टतः अनुदेश किया है कि यज्ञ, दान, तप आदि कर्म नहीं त्यागना चाहिये; इन्हें करना ही चाहिये—'यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्' (१८ । ५)।

५—द्र०—ईशावास्य और गीता ५ । १० । ६—'योगः कर्मसु कौशलम्।'

७—'सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।' ८—'ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।'

९—द्रष्टव्य—गीता २ । ६४, ३ । १९, ३ । २५ और १८ । ९ ।

इस युक्ति-(योग-)से मुक्ति प्राप्त की । जनक, श्रीकृष्ण, व्यास, वसिष्ठ, जैगीषव्य प्रभृति महापुरुष और मनु, इक्ष्वाकु प्रभृति राजर्षियोंकी कर्मयोगपरम्परा लम्बी है ।

किंतु निष्कामतापूर्वक अनासक्तभावसे केवल कर्तव्य-बुद्धया कार्य करनेमें मनुष्यकी प्रकृति और प्रवृत्ति न होनेसे यदि अनासक्तिपूर्वक कर्म करना ही सम्भव न हो सके तो 'लोकसंग्रह' (विश्व-मङ्गल) की दृष्टिसे विश्वजनीन कर्म करे—

'लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि ।'

फिर भी यशोलिप्सा प्रभृतिकी फलासक्ति पिण्ड न छोड़े तो भगवत्प्रीत्यर्थ, भगवदर्पण-बुद्धिसे शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्म करे; क्योंकि भगवत्प्राप्तिका सदुद्देश्य स्वार्थरहित होनेसे बन्धनकारक नहीं होता, वह बहुत कुछ निष्कामताके भीतर होता है, अतः कल्याण-प्रदाता है । अतएव भगवान् स्वयं कहते हैं—

'मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि ।'

मेरे लिये भी कर्मोंको करता हुआ तुम सिद्धि प्राप्त कर सकते हो । निदान, जीव जगत् और परमेश्वरका सात्त्विक ज्ञान प्राप्त करके कर्मफलोंमें आसक्तिरहित होकर केवल कर्तव्य-बुद्धिसे अथवा लोकसंग्रहकी उदात्तभावनासे या पुनीत भगवदर्पणबुद्धिसे भावयोग-(भक्ति)-पूर्वक[१०] यावज्जीवन नित्य-नैमित्तिक कर्तव्यकर्मोंको यथाविधि, यथाशास्त्र करते रहना कर्मयोगका व्यावहारिक स्वरूप है, जिसमें लोक-संग्रह एवं भगवदर्पणकी उपयोगिताकी विशिष्टतासे विशेष उपादेयता सुतरां सिद्ध है ।

(समाप्त)

कर्मयोगकी शुभाशंसा

नमः कर्मण्यदेवाय कर्मयोगाय ते नमः । नमः विश्वप्रतिष्ठाय निष्कामकर्मणे नमः ॥
कर्मयोगाख्य चाङ्कोऽयं जृम्भेतां भुवने शुभम् । कल्याणं वर्धयेन्नित्यं लोकानां श्रेयसे सदा ॥
त्यक्त्वाऽऽलस्यं वैमनस्यं सौमनस्यं प्रधार्य च । निष्कामकर्मयोगेन विश्वेषां साधयेत् सदा ॥
श्रुतिस्मृतिपुराणोक्तो वर्णाश्रमविभूषकः । कर्मयोगो मुदा पाल्यो निःश्रेयसकरो हि सः ॥
भारतो नैषदेशोऽयं भोगभूमिरिति यतः । सेव्यः सदा हि सद्योगो निष्कामधर्मसंयुतः ॥

कर्म-कौशलके आदिदेव भगवान् श्रीकृष्णको नमस्कार है । भगवन् ! आपके द्वारा प्रवर्तित और पुनः अर्जुनको उपदिष्ट निःश्रेयस्कर आपके 'कर्मयोग'को नमस्कार है । विश्वके प्रतिष्ठाभूत आपको नमस्कार है और निष्काम-कर्मरूपको नमस्कार है । 'निष्काम-कर्मयोगाङ्क' नामक कल्याणका यह शुभद विशेषाङ्क भुवनभरमें प्रसृत हो जाय—फैल जाय और सदैव लोगोंके कल्याणके लिये कल्याणको नित्य बढ़ाये । लोक आलस्य (प्रमाद), वैमनस्य (विरोध-कलह-कोलाहल) छोड़कर और सौमनस्य (सद्भाव, शुभ-संकल्प) धारणकर निष्काम-कर्मयोगके द्वारा सदा सभी लोगोंके कल्याणके अनुरूप नित्य साधना करे । ईशावास्यादि श्रुतियों, सभी स्मृतियों और पुराणोंमें प्रतिपादित चारों वर्ण-(ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र) और चारों आश्रम-(ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासाश्रम) को सुन्दर बनानेवाले कर्मयोगका प्रसन्नतापूर्वक पालन करना चाहिये; क्योंकि वह परमकल्याणकारक है । यतः यह भारत-देश भोगभूमि नहीं है—'यतो हि कर्मभूरेषा ततोऽन्या भोगभूमयः ।' (विष्णुपु०) अतः निष्कामधर्मसे युक्त—(अपने स्वार्थकी भावना छोड़कर) सदा सत्योग=कर्मयोगका सेवन करना चाहिये ।

१०—अनन्यभावसे भगवद्भक्ति करनेवाले और सदैव युक्त मानो निष्कामबुद्धिसे बर्तनेवाले ज्ञानीकी योग्यता अपेक्षाकृत विशेष होती है (द्रष्टव्य—गीता ७ । १७) । भागवतधर्मका यह स्वरूप सर्वश्रेष्ठ है । उच्चकोटिके ज्ञानियोंका जीवन-दर्शन इसका उत्कृष्ट निदर्शन है ।

पढ़ो, समझो और करो

(१)

भिखारीकी निःस्पृह कर्तव्य-भावना

पिछले कुछ दिनोंसे हमारे घरके दरवाजेपर एक लँगड़ा भिखारी भीख माँगने आने लगा था। प्रारम्भमें हम उसे कभी पैसे, कभी आटा और कभी चावल आदि दे दिया करते थे; किंतु जब उसने प्रतिदिन नियमित रूपसे हमारे दरवाजेपर आकर धरना देना शुरू कर दिया और बिना कुछ पाये जब वह टलने भी न लगा तब घरके सदस्योंने मिलकर एकमतसे निर्णय लिया कि आगेसे लँगड़े भिखारीको कुछ भी न दिया जाय।

उस दिन मेरा मन कुछ ठीक न था। तभी वह भिखारी आ टपका और गिड़गिड़ाने लगा—'साब, कलसे भोजनका एक दाना भी नसीब नहीं हुआ है। कुछ खानेको मिल जाय!' किंतु मैंने डपट दिया और कुछ दिये बिना ही जानेके लिये उसे विवश कर दिया। उसी समय मेरे बड़े भाई साहबने घरमें प्रवेश किया। वे मुझसे बोले—'आज बोनस मिल गया है, मार्केटसे सामान आदि लानेके लिये तैयार हो जाओ।' किंतु उन्होंने जैसे ही पर्स निकालनेके लिये जेबमें हाथ डाला, वे स्तब्ध खड़े रह गये और कहने लगे—'अरे! मेरा पर्स कहाँ गया?' भाई साहब घबड़ाये हुए उसी क्षण उल्टे पैर वापस आफिसतक जानेके लिये घरसे बाहर निकल गये। उसी समय सामनेसे उन्हें वही लँगड़ा भिखारी आता दिखायी दिया। उसने भाई साहबको घबराहट तथा चिन्तित मुद्रामें शीघ्रतासे जाते हुए देख पूछ लिया—'साब, लगता है आपका कुछ खो गया है।' भाई साहब बोले—'हाँ भाई, मेरा पर्स पता नहीं कहाँ गिर गया है! पूरे आठ सौ साठ रुपये थे उसमें।' भिखारी प्रसन्न होते हुए बोला—'तब तो यह पर्स आपका ही होगा साब!' उसने अपने खीसेमेंसे पर्स निकाला और भाई साहबको थमाता हुआ बोला—'यह लीजिये, गिन लीजिये साब! रुपये पूरे हैं न? यह तो अच्छा हुआ कि पर्स मुझे मिल गया, अन्यथा भगवान् ही जानते होंगे आपको कितनी परेशानी उठानी पड़ती।'

भाई साहबने रुपये गिने तो पूरे आठ सौ साठ ही थे। वे उसकी ईमानदारी तथा परहितकी इस निष्ठापर मुग्ध रह गये। उन्होंने प्रसन्न हो, उसे पचीस रुपये देने चाहे, पर उसने लेनेसे इन्कार कर दिया। वह बोला—'यदि कुछ देना ही है तो दो रोटी दे दीजिये इस भूखे पेटके लिये।' रोटियाँ पाकर वह सहजभावसे चुपचाप अपने गन्तव्यकी ओर चला गया, उसके लिये सब कुछ सामान्य हो गया; जैसे कि कुछ हुआ ही न हो। हम मौनभावसे उसकी इस निःस्पृह कर्तव्य-भावनाको सराहते रहे।

—अनुपम भाटिया

(२)

फलेच्छारहित सेवाका फल

उत्तरप्रदेशमें गोरखपुर जनपदकी सीमासे लगा हुआ एक जनपद है—आजमगढ़। उसके पश्चिमी भागमें अहरौला कस्बेके निकट खजुरी नामका ग्राम है। इसी ग्राममें मुंशी भारद्वाजलाल रहते थे। अच्छी खेती-बारी थी और भरा-पूरा परिवार। मुंशीजी बड़े सरल हृदय, भावुक और सात्त्विक विचारोंके व्यक्ति थे। अतिथियोंकी सेवामें उन्हें बड़ा सुख मिलता था। उन दिनों सवारी आदि साधनोंकी कमी तथा सुविधा न होनेसे नेपालसे लेकर गोरखपुर, बस्ती आदि जनपदोंके तीर्थयात्री माघमें प्रयागकी यात्रा पैदल ही करते थे। पर्वके कुछ दिनों पूर्वसे ही हजारों-हजारों पदयात्रियोंकी धारा-सी चलती थी और उनका

मार्ग खजुरी ग्रामसे होकर ही जाता था। शीतका समय होता तथा पैदल-यात्राके कारण थोड़ी-सी सामग्री साथमें लेकर जाते हुए तीर्थ-यात्रियोंको देखकर मुंशीजी भाव-विह्वल हो जाते थे। कार्तिककी पूर्णिमा होते ही मुंशीजीका एक ही काम रहता—जंगलसे लकड़ियाँ कटवाकर मँगाना, उन्हें सुखवाना, (जिससे यात्रियोंको आग तापनेकी सुविधा प्राप्त हो सके) पुवालकी चटाइयाँ बनवाना और भोजन आदि बनानेके लिये मिट्टीके बर्तनों तथा उपलोंका संग्रह कराना। किसीका क्या साहस कि घरका कोई प्राणी इन सामग्रियोंमेंसे कभी घरके उपयोगके लिये कुछ भी ले सके।

एक बार जेठकी तपती दोपहरीकी बात है। मुंशीजी अपने बरामदेमें बैठे थे। सामने कुएँपर आदमी खेतोंके लिये पानी चला रहे थे। गर्म हवा (लूह)की लपटोंमें झुलसता हुआ एक राही एकाएक कुएँकी ओर बढ़ा और वह पानी पीना ही चाहता था कि मुंशीजी जोरसे चिल्लाये—'अरे! कौन पानी पीने जा रहा है; रोको, रोको उसे।' राही स्वतः रुक गया और आश्चर्यसे देखने लगा कि इस भीषण गर्मीमें कुएँपर चलते हुए पानीको पीनेसे रोकनेवाला यह कौन है! तबतक मुंशीजीने अपने आदमियोंसे कहा कि 'उस राहीको मेरे पास ले आओ।' राही लाया गया। उसके आते ही मुंशीजीने उसे छायामें आरामसे बैठनेको कहा और बोले—'भइया! इतनी तेज धूप एवं लूहमें राह चलते हुए तुरंत शीतल जल पी लेनेसे पानी लग जायेगा और तकलीफ होगी। थोड़ी देर ठंडेमें बैठकर सुस्ता लो, फिर पानी पीना।' मुंशीजीने इसी बीच घरमेंसे गुड़की भेलियाँ मँगा लीं और जल पीनेसे पहले उन्हें खा लेनेके लिये राहीसे आग्रह किया। उसने ठंडा हो, गुड़ खाकर विश्रामकर शीतल जल पीया तथा अपने मार्गपर आगे बढ़ गया।

कुछ समय पश्चात् मुंशीजीके यहाँ लड़कीका विवाह था। सभी तैयारियाँ हो रही थीं। घरमें बर्त्तन, आभूषण एवं वस्त्रादि संचित हो चुके थे। अन्य आवश्यक सामग्रियाँ भी एकत्रित की जा रही थीं। उन्हीं दिनों—एक किसी दिन एक व्यक्ति आकर मुंशीजीके पैरोंपर गिर पड़ा और रोते-रोते कहने लगा—'बाबूजी, मुझे क्षमा कर दीजिये! मुझसे आपका बड़ा अपराध हुआ है।' मुंशीजी चकित होकर बोले—'अरे भाई! ऐसा क्यों कहते हो?' तुम्हें तो मैं जानता ही नहीं और फिर तुमने मेरा कोई अपराध भी नहीं किया है।'

उस व्यक्तिने रुआँसे स्वरमें कहा कि 'आपके यहाँ विवाह-प्रसंगमें एकत्रित धन-सम्पत्तिकी जानकारी इधरके कुछ चोरोंको हो जानेसे उन्होंने चोरी करनेकी योजना बनायी थी। मेरा सम्बन्ध भी उनके साथ रहा है; अतः मैं भी इस दुष्कर्ममें सम्मिलित हो गया था। आपके पिछवाड़े वृक्ष तथा जंगली घासें हैं। हम लोगोंने उसी ओरसे खपरैलके रास्ते घरमें प्रवेश करनेका विचार किया था। घरमें प्रविष्ट होनेके समय मैं यह नहीं जान पाया कि यह किसका घर है, किंतु खपरैलपर चढ़ जानेपर, जिस समय नीचे आँगनमें उतरनेका विचार कर ही रहा था तभी आपके घरका सामनेवाला कुआँ दीख पड़ा और मुझे गरमीकी वह तप्त दोपहरी तुरंत याद आ गयी—जब आपने मुझे बड़े स्नेहसे बुलाकर शीतल जल पिलाया था। उसका स्मरण होते ही मैं तुरंत पीछेकी ओर कूद पड़ा और सभी साथियोंसे कहा कि यहाँसे जल्दी भाग चलो; नहीं तो मैं स्वतः शोर करके सबको जगा दूँगा। सफलताके इतने निकट पहुँचकर लौट जानेकी बात मेरे साथियोंको विचित्र लगी। किंतु मैंने साहसपूर्वक उन्हें समझाते हुए पुनः कहा कि "इतने बड़े साधु पुरुष तथा परोपकारी व्यक्तिके घरमें चोरी करनेसे तुम सबका सर्वनाश हो जायगा।" मेरी बात मानकर उस दिन यद्यपि हम सब लोग आपके यहाँसे वापस चले गये थे, पर

मेरे मनको इतने मात्रसे शान्ति न मिल सकी और यह कसक बराबर बनी ही रही कि आपके यहाँ चोरी करनेकी दृष्टिसे—जाने मात्रसे ही मुझसे घोर पाप (अपराध) हो गया है। इसीलिये अपने मनका बोझ उतारनेके लिये आज मैं आपके पास आया हूँ कि आपके पैरोंपर गिरकर अपने अपराधके लिये आपसे क्षमा माँग लूँ। जिससे पश्चात्तापसे दग्ध मेरे हृदयको शान्ति मिल सके।'

मुंशीजीने आँखोंमें आँसू भरकर उसे गलेसे लगा लिया और कहा—'भैया ! यह तो तुम्हारा स्नेह है। मैं तो इधरसे जानेवाले पथिकों तथा यात्रियोंकी यत्किञ्चित् सेवा अतिथिदेवके भावसे 'स्वान्तःसुखाय'—स्वतः अपने आनन्दके लिये कर दिया करता हूँ। यह तो उनकी कृपा है कि वे मेरी सेवा स्वीकार करके मुझे उपकृत करते हैं। तुम दुखी न हो, मैं तुम्हारे सद्भावके लिये आभारी हूँ।' मुंशीजीसे अपेक्षासे अधिक-स्नेहपूर्ण सान्त्वना तथा आश्वासन पाकर उस व्यक्तिकी समस्त ग्लानि दूर हो गयी।

मुंशीजी अब नहीं रहे हैं, किंतु उनके सुकृत-सौरभसे वहाँकी दिशाएँ आज भी सुरभित हैं।

—चन्द्रदत्त त्रिपाठी

(३)

चोरीका पुरस्कार

पुरानी बात है। वर्षों पहले राजस्थानके एक ग्राम गूंगामें एक सेठ रहते थे। वे स्वभावतः बड़े सज्जन, मृदुभाषी, सरल तथा सबका हित चाहनेवाले थे। संवत् १९९६ का भीषण अकाल पड़ा था। सेठ गणेशदास-जीके यहाँ नित्यप्रति आवाज लगाकर प्रचारित किया जाता कि कोई भूखा-प्यासा हो तो आ जाय। और ऐसे लोगोंके पहुँचनेपर बड़े मान-मनुहारके साथ उन्हें भोजन कराया जाता। उनके यहाँ इस प्रकारका सदावर्त प्रायः नित्य चलता था।

एक दिन सेठ साहब दुकानपर बैठे व्यापारका कार्य देख रहे थे। तभी दुकानकी पिछली खिड़कीसे मलमलका थान खींचते हुए एक चोरको नौकरने पकड़ लिया। वह सेठजीके सामने लाया गया। सेठने उसे पहचान लिया, पर बोले कुछ नहीं। नौकर तथा सेठ साहबके पुत्र उसे मारने-पीटने लगे। सेठ साहबने उन्हें रोक दिया और उसे अपने पास बैठा लिया। सेठजी शान्त तथा मधुर-कोमल स्वरमें कहने लगे—'साफे (पगड़ी) के लिये मलमल चाहिये थी इन्हें। यदि ऐसा था तो आप मुझसे कह देते मैं दिलवा देता।' वे तुरंत अपने पुत्रसे बोले—'वह मलमल ले आओ तथा इन्हें साफा बँधवा दो। इन्हें साफेकी जरूरत है। पैसे इनके पास थे नहीं, माँगना शोभा नहीं देता; फिर फटे साफेसे सम्बन्धियोंके गाँवमें रहना अच्छा नहीं लगा होगा। इस प्रकार मजबूरीसे इनको चोरी करनी पड़ रही थी। अस्तु, अपने गाँवके सम्बन्धी अपने ही सम्बन्धी हैं।' सेठजीने अपने पास बैठाकर उसके साफा बँधवाया। फिर घरसे घी-शक्करयुक्त भोजन मँगवाकर उसे भोजन करवाया।

वह महाशय अब क्या कहते ? वह तो लज्जावश अंदर-ही-अंदर गड़े जा रहे थे। वह तथा अन्य लोग भी सोच रहे थे कि प्रायः नेकीका पुरस्कार दिया जाता है, पर यहाँ तो उसे चोरीका पुरस्कार मिला है!

सजा देनेके अपने-अपने तरीके होते हैं। इस प्रकारका सद्भावनापूर्ण मानवीय व्यवहार किये जानेपर कोई व्यक्ति पुनः अपराध करनेकी हिम्मत भला कैसे कर सकता है ? सम्भवतः नहीं कर सकता। जीवनका काया-पलट प्रायः ऐसे ही घटना-क्रम तथा ऐसे ही परहितभावी महानुभावोंके संसर्गसे हो जाया करता है। वस्तुतः बिना किसी स्वार्थ-भावके किसी गिरतेको उठाना सबसे बड़ा नैष्कर्म्य-(सेवाकार्य-) है।

प्रेषक—श्रीपुरुषोत्तमजी सिंघल



सीताराम कहिये !

सीताराम सीताराम सीताराम कहिये,
जाही बिधि राखे राम ताही बिधि रहिये।
मुखमें हो राम-नाम, जन-सेवा हाथमें,
तू अकेला नाहीं बन्दे राम तेरे साथमें।
विधिका विधान जान, हानि-लाभ सहिये ॥ जाहि विधि राखे···
किया अभिमान तो फिर मान नहीं पायेगा,
होगा प्यारे वही जो श्रीरामजीको भायेगा।
फल-आशा त्याग, शुभ कर्म करते रहिये ॥ जाहि विधि राखे···
जिन्दगीकी डोर सौंप हाथ दीनानाथके,
महलोंमें रक्खें चाहे झोपड़ीमें वास दें।
धन्यवाद निर्विवाद राम राम कहिये ॥ जाहि विधि राखे···
नाता एक रामजीसे दूजा नाता तोड़ दे,
आशा एक रामजीकी दूजी आशा छोड़ दे।
साधु संग राम रंग, अंग-अंग रँगिये,
काम रस छोड़ प्यारे, राम रस पगिये ॥ जाहि विधि राखे···

गीताप्रेसके तथा 'कल्याण'के नामसे गलत प्रचार करनेवालोंसे सावधान !

कुछ अविश्वसनीय लोग व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धिके लिये गीताप्रेसके नामका दुरुपयोग कर "श्रीगीताप्रेस"के नामसे जनतासे धन एवं सहायताकी माँग किया करते हैं। इस प्रकारकी शिकायतें हमें मिली हैं।

चण्डीगढ़ (पंजाब)में 'स्वामी' नामके एक व्यक्ति 'श्रीगीताप्रेस',—चण्डीगढ़के नामसे धनकी और सहायताकी माँग कर रहे हैं। जो सर्वथा अनुचित कार्य है। यह स्पष्ट और निश्चित समझ लेना चाहिये कि उपर्युक्त 'स्वामी' नामधारी व्यक्तिसे तथा 'श्रीगीताप्रेस' (चण्डीगढ़)से गीताप्रेस, गोरखपुरका कोई सम्बन्ध नहीं है। गीताप्रेसने इस प्रकारकी सहायताकी कभी न तो माँग की है और न इसे ऐसी सहायताकी कोई आवश्यकता है। यह हमारी संस्थाके सिद्धान्त तथा परम्पराके सर्वथा विरुद्ध है। ऐसे लोगोंको सहायता देनेवालोंके प्रति गीताप्रेसकी कोई भी जिम्मेदारी नहीं है और न होगी। अतः इस विषयमें पूर्ण सावधान रहना चाहिये। इस विषयकी सूचना पहले भी प्रकाशित की जा चुकी है। व्यवस्थापक—गीताप्रेस, गोरखपुर (उ० प्र०)

गीताभवन, स्वर्गाश्रमके सत्सङ्गकी सूचना

प्रतिवर्षकी भाँति इस वर्ष भी गीताभवन, स्वर्गाश्रममें सत्सङ्गके आयोजनकी व्यवस्था है। प्रार्थना है कि सदाकी तरह सभी सत्सङ्गी महानुभाव तथा माताएँ-बहनें अधिकाधिक संख्यामें केवल सत्सङ्ग तथा भजनके पवित्र उद्देश्यसे ही गीताभवनमें पधारें। चैत्र शुक्ल पूर्णिमाके लगभग श्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजके वहाँ पधारनेका विचार है। अन्यान्य संत-महात्मा, विद्वान् तथा रामायणके वक्ता आदि भी पधारनेवाले हैं।

नौकर-रसोइया आदिको यथासम्भव साथमें लाना चाहिये। स्वर्गाश्रममें नौकर-रसोइयोंका मिलना कठिन है। स्त्रियाँ पीहर या ससुरालवालोंके अथवा अन्य किन्हीं निकटके सम्बन्धीके साथ ही वहाँ जायँ, अकेली न जायँ। अकेली जानेकी दशामें स्थान मिलनेमें कठिनाई है। गहने आदि जोखिमकी चीजें साथमें बिल्कुल नहीं ले जानी चाहिये। सत्सङ्गी भाइयोंको बहुत आवश्यक सामान ही साथमें लाना चाहिये तथा अपने सामानकी पूरी सँभाल स्वयं रखनी चाहिये। जहाँतक बन पड़े छोटे बच्चोंको साथमें न ले जायँ, नितान्त निरुपाय हों तो उस स्थितिमें बच्चोंको वे ही लोग साथमें ले जायँ जो उन्हें अलग डेरेपर रखनेकी व्यवस्था कर सकते हों, जिससे सत्सङ्गमें बाधा न पड़े। खान-पानकी वस्तुओंका प्रबन्ध यथासाध्य किया जा रहा है, परंतु दूधके प्रबन्धमें बहुत कठिनाई है।

सदाकी भाँति यह नम्र निवेदन है कि सत्सङ्गमें पधारनेवालोंको आमोद-प्रमोद (मनोरञ्जन) तथा केवल जलवायु-परिवर्तनकी दृष्टिसे न जाकर सत्सङ्ग-लाभके उद्देश्यसे ही वहाँ जाना चाहिये एवं यथासाध्य नियमित तथा संयमित साधक-जीवन बिताते हुए सत्सङ्गमें अधिक-से-अधिक भाग लेना चाहिये। —प्रबन्धक

'कल्याण' नामक हिन्दी मासिक पत्रके सम्बन्धमें विवरण

फार्म—चार, नियम-संख्या-आठ

१-प्रकाशनका स्थान—गीताप्रेस, गोरखपुर

२-प्रकाशनकी आवृत्ति—मासिक

३-मुद्रकका नाम—मोतीलाल जालान
राष्ट्रगत सम्बन्ध—भारतीय
पता—गीताप्रेस, गोरखपुर

४-प्रकाशकका नाम—मोतीलाल जालान
राष्ट्रगत सम्बन्ध—भारतीय
पता—गीताप्रेस, गोरखपुर

५-सम्पादकका नाम—मोतीलाल जालान
राष्ट्रगत सम्बन्ध—भारतीय
पता—गीताप्रेस, गोरखपुर

६-उन व्यक्तियोंके नाम-पते जो इस समाचार-पत्रके मालिक हैं और जो इसकी पूँजीके भागीदार हैं। — श्रीगोविन्दभवन-कार्यालय पता—नं० १५१, महात्मागाँधी रोड, कलकत्ता (सन् १८६० के विधान २१ के अनुसार) रजिस्टर्ड धार्मिक-संस्था

मैं मोतीलाल जालान, इसके द्वारा यह घोषित करता हूँ कि ऊपर लिखी बातें मेरी जानकारी और विश्वासके अनुसार यथार्थ हैं।

—मोतीलाल जालान
प्रकाशक

दिनाङ्क २८ फरवरी १९८०